दर्शन शास्त्र-संग्रह

(भारतीय दर्शन शास्त्र का अपूर्व संग्रह)



लेखक—श्री १००८ श्री स्वामी जी महाराज

श्री पीताम्बरापीठ, बनखण्डी, दतिया, (मध्य प्रदेश)

भूमिका लेखक-डॉ० सम्पूर्णानन्द जी, भू. पू. शिक्षा मन्त्री (उ०प्र०)

पाद
अ
ह
क

ॐ

दर्शन शास्त्र-संग्रह

(भारतीय दर्शन शास्त्र का अपूर्व संग्रह)

लेखक—

श्री १००८ श्री स्वामी जी महाराज

श्री पीताम्बरापीठ

दतिया (बुन्देलखण्ड)

सर्वाधिकार सम्पन्न प्रकाशक :
श्री पीताम्बरा-पीठ
संस्कृत परिषद्
वनखंडेश्वर, दतिया (म.प्र.)

द्वितीय संस्करण
संवत् २०४५
मूल्य ६) रुपया

मुद्रक :
उमाशंकर मिश्र
श्रीशंकर प्रेस
३६-३७, खत्रयाना, झाँसी

प्रकाशकीय

प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्री १००८ श्री स्वामी जी महाराज के द्वारा प्रणीत दर्शन शास्त्र संग्रह ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु यह संस्कृत परिषद् परमानन्द का अनुभव कर रही है। भारतीय सभी दर्शनों का ऐसी सरल और सुबोध भाषा में बोधगम्य विवरण जो पूज्यपाद ने दिया है अन्य दर्शन ग्रन्थों में दुर्लभ है। इतने संक्षेप में इन दर्शनों की रूप रेखा कोई भी दार्शनिक नहीं दे सका है। आशा है कि इस प्रकाशन द्वारा दर्शन के विद्वानों को और विद्यार्थियों को मार्गदर्शक होगा यही कामना है।

शारदीय नवरात्र २०४५
११-१०-८८

विनीत :
मन्त्री
श्रीपीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद्
दतिया (म० प्र०)

भूमिका



भारत ऐसा देश है जिसके निवासियों को सदा से धर्म्म और दर्शन के प्रति अभिरुचि रही है, परन्तु यह लाञ्छन की बात थी कि हिन्दी भाषा में इन विषयों पर अच्छी पुस्तकें उपलब्ध न थीं। मौलिक ग्रन्थों की बात तो दूर रही, ऐसी रचनाओं की बात भी जाने दीजिये जिनमें पाश्चात्य विचारों का समीचीन दिग्दर्शन कराया गया हो, भारतीय दर्शन की मुख्य धाराओं का परिचय कराने वाली पुस्तकें भी नहीं के बराबर थीं। श्री बलदेव उपाध्याय के "भारतीय दर्शन" ने इस कमी को दूर करने का पहिला सफल प्रयास किया। उन्होंने उसे यथाशक्य तटस्थ भाव से भी लिखा है।

प्रस्तुत पुस्तक भी इसी उद्देश्य से लिखी गई है। विद्वान लेखक ने इसके संकलन में जो परिश्रम किया है वह प्रशंसा के योग्य है, परन्तु उन्होंने अपने लिये पुस्तक के परिमाण के सम्बन्ध में जो सीमा बाँध ली है उसके कारण उनको विषय के स्पष्टीकरण में बहुत संकोच से काम लेना पड़ा है। फलतः पाठकों को कहीं-कहीं पूरा लाभ उठाने से वञ्चित रहना पड़ेगा। पाँच पृष्ठों में बौद्ध दर्शन की रूपरेखा समझाना दुष्कर है। जिस प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर अकेले अभिनव गुप्त की रचनाओं की पृष्ठ संख्या एक सहस्त्र से ऊपर पहुँचती है उसको भला एक पृष्ठ में कोई कैसे समझ

पायेगा ? छोटी पुस्तक में प्रधान दर्शनों का ही चर्चा करना अधिक उपयोगी होता। ऐसा करने से विवेचन अधिक विशद हो पाता।

विषयों के पौर्वापर्य्य के सम्बन्ध में लेखक महोदय ने निश्चय ही अपने सामने कोई स्पष्ट सिद्धान्त रक्खा होगा परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यदि दर्शनों को उनकी आपेक्षिक स्थूलता सूक्ष्मता की दृष्टि से क्रमबद्ध किया जाता तो अधिक अच्छा होता। तीनों नास्तिक दर्शन आरम्भ में देने की अपेक्षा बौद्ध दर्शन को कहीं वेदान्त के आस पास आना चाहिये था। अभाव का पृथक् अधिकरण होना उचित था। अनुपलब्धि के साथ-साथ दो एक पंक्तियों में उसका नाम कीर्तन कर देना पर्याप्त नहीं माना जा सकता।

पुस्तक को देखने से पाठक को यह बोध निश्चय ही होगा कि भारत में ख्यातनामा षड्दर्शन के सिवाय भी कई स्वतन्त्र विचार-धारायें रही हैं। डर केवल इतना है कि पुस्तक बहुत छोटी होने के कारण इन विभिन्न विचारशैलियों का ठीक ठीक बोध न हो पावे और लोग कुछ अत्यन्त अपूर्ण ज्ञान की मात्रा के आधार पर भ्रान्त धारणायें न बनालें।

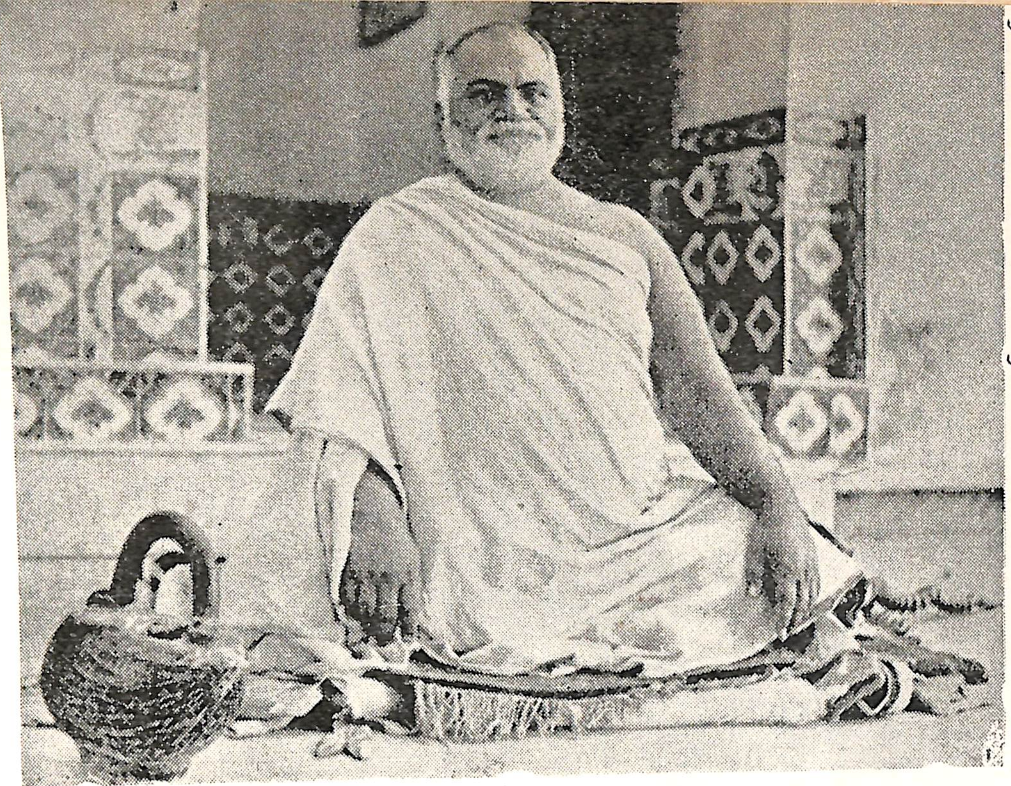
डा० सम्पूर्णानन्द

भू. पू. शिक्षा मन्त्री (उ. प्र.)

लखनऊ

२०-९-५०





श्री १००८ श्री पूज्यपाद स्वामी जी महाराज (ब्रह्मलीन)

प्राक्कथन

यह 'दर्शन शास्त्र संग्रह' पुस्तक आज से चौबीस वर्ष पूर्व ही लिखी जा चुकी थी, अध्ययन के समय ऐसी इच्छा हुई कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में ऐसा कोई ग्रन्थ होना चाहिये कि जिससे हिन्दी के पाठकों को भी दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी बातों का परिचय हो उसी का परिणाम यह ग्रन्थ है : कई कारणों से उस समय इसका प्रकाशन नहीं हो सका, पुस्तक यों ही रक्खी ही रही। इसके निर्माण-काल में इस शैली का कोई भीं उपयुक्त ग्रन्थ हिन्दी भाषा में नहीं उपलब्ध था। हिन्दी पाठकों को दर्शन का सिद्धान्त थोड़े में समझने के लिये तथा इस विषय की रुचि उत्पन्न करने के लिये माधवाचार्य के 'सर्व दर्शन संग्रह' की शैली पर इसका प्रणयन किया गया था इसके लिये यही शैली उपयुक्त समझ में आयी। इस समय तो हिन्दी में कई ग्रन्थ दर्शन विषय के उपलब्ध हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन का 'दर्शन दिग्दर्शन' पं० बलदेव प्रसाद का 'भारतीय दर्शन' श्री देवराज का 'प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन' मुख्य हैं। ऐसी अवस्था में इस छोटी सी पुस्तक का प्रकाशन क्यों हो यह प्रश्न उठ सकता है. इसमें कुछ वैशिष्टय होना चाहिये। श्री राहुल जी का 'दर्शन दिग्दर्शन' कम्युनिज्म की सिद्धि के लिये दर्शन का आश्रय लेकर लिखा गया है। एक प्रकार से दर्शनशास्त्र की प्राचीन आगत परम्परा से सर्वथा विपरीत है। इसमें दर्शन का लक्ष्य बिल्कुल विपरीत रूप से प्रदर्शित किया गया है। पं० बलदेव उपाध्याय

का 'भारतीय दर्शन' वास्तव में एक सुन्दर तथा विशद रूप में लिखा गया है। नवीन एवं प्राचीन शैली का सम्मिश्रण करने से यह बहुत ही उपयोगी हो गया है। देवराज जी का 'प्राच्य और पाश्चात्यदर्शन' तुलनात्मक ग्रन्थ है। इसकी विचार प्रणाली गम्भीर एवं उपादेय है तथापि इसके द्वारा प्रक्रिया क्रम का बोध पाठक को नहीं हो सकता। प्रत्येक दर्शन की क्रमबद्ध एक प्रक्रिया होती है जिससे चलकर शास्त्र के प्रतिपाद लक्ष्य को ठीक रीति से समझा जाता है। इसी नियम को लक्ष्य करके यह संग्रह किया गया है। इसकी प्रक्रिया शुद्ध भारतीय दर्शन की है। दर्शन शास्त्र का विषय कठिन एवं दुरूह होने से उसके समझाने के लिये लेखक को विस्तार तथा स्पष्ट ही रीति का अवलम्बन करना उपयोगी होता है जैसा कि भूमिका के शब्दों में श्रीयुत माननीय बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने बताया है। यह आपकी सम्मति बहुत ही उपादेय है तथापि जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिये पहले समास पश्चात् में व्यास शैली का उपयोग हितकारी होता है। पहले पहल वृहत् काय ग्रन्थों के अनुशीलन में पाठकों की अरुचि का होना अनिवार्य है। मुख्य रूप से वेदान्त दर्शन के तत्त्वों को बताने का लक्ष्य होने से अन्य दर्शनों को संक्षेप रीति से बताया गया है। भारतीय-दर्शन की विचार धारा आस्तिक एवं नास्तिक रूप से प्रवृत्त दो विभागों में मानी गयी है। सत्ता का आश्रय करके आस्तिक दर्शन एवं असत्ता का अवलम्ब नास्तिक दर्शनों में किया गया है। असत्ता का मुख्यतः प्रतिपादन चार्वाक दर्शन में होता है, जैन, बौद्ध इन दोनों दर्शनों की विचार भित्ति चार्वाक दर्शन है इसलिये इनकी कोटि नास्तिक दर्शन की ही है। इसीलिये चार्वाक के पश्चात् जैन बौद्ध दर्शनों का क्रम दिया गया है। न्यायवैशेषिक का एक क्रम है। कणाद के पदार्थ विचार पर गौतम

ने अपने शास्त्र की विचार प्रणाली नियत की है, सांख्य. योग का एक क्रम है। सांख्य के विचार पर योग दर्शन का अभ्यास क्रम चलता है। वैष्णव, शैव एवं शाक्त दर्शनों का क्रम एक सा चलता है। इनके अवान्तर दर्शनों में भी क्रम है। प्रधान दर्शन पहले लिखकर सर्वमान्य सिद्धान्तों में सबकी एकता को मानते हुये केवल विशेष मतभेद को ही लिखा गया है। इसीलिये बौद्ध एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन को सूक्ष्म सक्षिप्त रूप से ही बताया गया है। वेदान्त और मीमांसा में वैदिकत्व का साम्य होने से एक साथ निबद्ध किया गया है। व्याकरण दर्शन वेदान्त के बहुत ही निकट है। नास्तिक दर्शनों को आस्तिक दर्शन के चरम विकास रूप वेदान्त दर्शन के पूर्वरूप में स्वीकार किया गया है। यह एक समन्वय की अपूर्व रीति है जिसे वेदान्त दर्शन के आरम्भ में पूर्व संगति के नाम से लिखा गया है। छोटी सी पुस्तक में इतने विषयों के प्रतिपादन से अस्पष्टी करण का दोष अवश्य आ गया है; इसके अङ्गीकार कर लेने में कोई क्षति नहीं है तथापि इसके प्रधान लक्ष्य में कोई कमी नहीं आयी है। पुस्तक के अवलोकन के बाद श्रीयुत बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने जो अपनी अत्यन्त उपयोगी भूमिका लिख कर दी है जिससे पुस्तक की कमी का अनुभव हुआ उसे आगे के संस्करण में अवश्य पूरा करने का प्रयत्न किया जायगा। इसके प्रकाशन में श्रीयुत बाबू परिपूर्णानन्द जी वर्मा एवं श्री प्रयागनारायण जी श्रीवास्तव प्रकाशक महोदय ने जो उद्योग किया है उसी का परिणाम पुस्तक का प्रकाशन है नहीं तो पुस्तक न मालूम कब-तक अप्रकाशित ही रहती है अतः ये महाशय सर्वथा धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है दर्शन-प्रेमी इसे अपनाकर इस शैली का सदुपयोग करेंगे।

—लेखक

(दर्शन शास्त्र संग्रह की विषयानुक्रमणिका)

(प्रथम भाग)



(द्वितीय भाग) १



—:० ॐ तत्सत् ०:—

दर्शन शास्त्र संग्रह

प्रथम भाग

——:o:o:——

उपोद्घात

मनुष्य विचारप्रधान प्राणी है, इसका स्वभाव हर एक बात को बुद्धिपूर्वक निर्णय करना है—जब तक किसी विषय का पूर्ण रूप से निश्चय नहीं हो जाता तब तक वह उसके लिये अनवरत प्रयत्न किया करता है—इसी नियमानुसार तत्वज्ञान के विषय में भी मनुष्य जाति ने जानने का जो प्रयत्न किया है और उस सम्बन्ध में उसके जो विचार समयानुसार प्रकट हुए हैं वही दर्शन शास्त्र के नाम से प्रख्यात हुये हैं।

सर्व प्रथम दर्शन शास्त्र के विचार वैदिक काल में ही उत्पन्न हुये क्योंकि वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में तत्वज्ञान सम्बन्धी विषयों का वर्णन विशेष महत्व के साथ किया गया है जिसका वेदान्त तथा पूर्व मीमांसा की विचार शैलियों में प्रत्यक्ष अनुभव

होता है। इसके पश्चात् वेद की पूर्ण रूप से सहायता न लेकर तर्क की प्रधानता अङ्गीकार करते हुये सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक दर्शनों की विचार धारा प्रवृत्त हुई। शैव, वैष्णव, शाक्त इन धर्मों के प्रमुख आचार्यों ने भी साधना के साथ साथ दार्शनिक विचारों को मिलाकर कई सम्प्रदायें प्रवृत्त की। यद्यपि ये शास्त्र वैदिक शास्त्रों से कुछ एक अन्शों में ही भिन्न हैं तथापि अर्वाचीन काल में इन सम्प्रदायों की प्रधानता होने से स्वतन्त्र सिद्धान्त रूप से ही इन्हें साम्प्रदायिक विद्वानों ने मान लिया है—इसी के अनुसार हमने भी इन्हें इस पुस्तक में स्वतन्त्र रूप से स्थान दिया है—इन दर्शनों को आस्तिक दर्शन भी कहते हैं क्योंकि वेद का प्रामाण्य इन्हें मान्य है। इनके अतिरिक्त वेद प्रमाण न मानकर स्वतन्त्र रूप से तात्त्विक विचार करने वाले भी सम्प्रदाय हैं जिन्हें चार्वाक, जैन व बौद्ध कहते हैं—इनके सिद्धान्तों का परिचय भी संक्षेप रीति से दिया गया है। एक एक दर्शन शास्त्र में अनेक तरह के आवान्तर भेद भी हैं, उन सबका निरूपण इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है। जहां तक हो सका है सर्वसम्मत सिद्धान्त ही लेखबद्ध किये गये हैं। वेदान्त दर्शन पर अनेक तरह के साम्प्रदायिक भाष्य भी उपलब्ध होते हैं परन्तु लेखक के विचार-परम्परानुसार वेदान्त का सिद्धान्त अद्वैत हैं, इसलिये इसे ही वेदान्त या वैदिक सिद्धान्त स्वीकार किया गया है—शैव दर्शन व्याकरण दर्शन के विचार सर्व दर्शन संग्रह से लिये गये हैं; शिव सूत्र के नाम से भी शैव सम्प्रदाय के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें शाम्भव, शाक्त, आणव क्रमों का निरूपण किया गया है। कल्लट भट्ट की कारिकायें भी इन्हीं सूत्रों के आशय

को प्रकट करती हैं, तथापि ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से इनका आश्रय नहीं लिया गया है। शाक्त सम्प्रदाय का वर्णन तंत्र ग्रन्थ और देवी भागवत आदि से लिया गया है, वैष्णव सिद्धान्त तथा जैन, बौद्ध मतों का संग्रह उनके ग्रन्थों से लिया गया है, प्रमाण भी उनके ही ग्रन्थों का दिया गया है जो कि उन मतों में प्रसिद्ध हैं। दर्शन शास्त्र के अभ्यास से परम सत्य को शीघ्र ही मनुष्य प्राप्त कर लेता है क्योंकि बुद्धि व्यायाम (Mental exercise) से ही यथार्थ ज्ञान होता है तत्पश्चात् शान्ति या सुख ब्रह्म निर्वाणात्मक मनुष्य का परम लक्ष्य प्राप्त होता है। इस विषय का श्रेष्ठ साधन दर्शन शास्त्र है इसलिये इसका अध्ययन अवश्य कर्तव्य है।

हिन्दी भाषा में दर्शन शास्त्रों के विषय पर अभी तक कोई सुबोध व सरल ग्रन्थ किसी महाशय का नहीं मिलता जिससे एक ही ग्रन्थ के अवलोकन से भारतीय दर्शन शास्त्रों का परिचय पर्याप्त रूप से प्राप्त हो सके। अभी तक जो ग्रन्थ लिखे हुये देखे गये हैं वे सब किसी एक सम्प्रदायकी प्रधानता को लिये हैं, उन ग्रन्थों में अन्य सम्प्रदायों के विचार पूर्व पक्ष रूप में होने से अत्यन्त न्यून परिमाण में हैं जिससे उनके वास्तविक रूपका ज्ञान नहीं होता है। इसी त्रुटि को देख कर अनेक पुस्तकों के अवलोकन के पश्चात् यह संग्रह किया गया है। इसका पालन कहां तक हो सका है इसको पाठक स्वयं ग्रन्थावलोकन से जान सकेंगे। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ से मनुष्य जाति का लाभ तथा हिन्दी साहित्य का कुछ हित होगा। ॐशम्।

प्रमाण निरूपण

दर्शन शास्त्र के गहन विषयों का निश्चय बिना प्रमाण के असम्भव है क्योंकि यथार्थ ज्ञान के साधनों को प्रमाण कहते हैं, इस लिये उसके लक्षण और भेद का निरूपण आवश्यक है। "प्रमायाः करणं प्रमाणम्" यथार्थ ज्ञान को ही दर्शन शास्त्र में प्रमा कहा जाता है उसका करण या साधन प्रमाण कहलाता है। प्रमाण नौ प्रकार के होते हैं जिन्हें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य, सम्भव और चेष्टा कहते हैं।

१—प्रत्यक्ष

निर्विवाद तथा सब प्रमाणों में मुख्य होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रथम निरूपण होता है। जब ज्ञानेन्द्रियों से विषय का सन्निकर्ष होकर ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं, इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय, विषय और ज्ञान तीनों प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। कोई कोई दार्शनिक इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रयोजक नहीं मानते हैं क्योंकि ईश्वर का ज्ञान इन्द्रिय विषय सम्बन्ध रहित है! तथापि प्रत्यक्ष है। इनके मत से वृत्ति अवच्छिन्न चेतन का विषय अवच्छिन्न चेतन से अभेद ही प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रयोजक है। अन्तःकरण या माया का ज्ञानात्मक विषय का प्रकाशक परिणाम वृत्ति कही जाती है। उसमें प्रतिफलित चेतन को वृत्ति अवच्छिन्न चेतन कहते हैं। इसी प्रकार विषय जो घटपटादि उनका प्रकाशक विषय चेतन है। इस मत में वृत्ति ही प्रमाण है, पूर्वोक्त

पहले मत में इन्द्रियां प्रमाण मानी जाती हैं और मन या अन्तः करण सहकारी हैं।

२—अनुमान

प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्वक अनुमान होता है, इसलिये प्रत्यक्ष के अनन्तर इसका निरूपण होता है, अनुमिति प्रमा के करण को अनुमान प्रमाण कहते हैं इसका करण व्याप्ति ज्ञान या लिङ्ग परामर्श है। साहचर्य ज्ञान को व्याप्ति कहते हैं जैसे—जहां जहां धुआँ होता है वहां वहां अग्नि अवश्य होती है। जैसेः—पाकशाला। इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान होने पर पर्वत आदि प्रदेशों में जहां केवल धुवें को ही देखते हैं वहां भी अग्नि का ज्ञान "अनुमान" से करते हैं। धुवें को देखकर व्याप्ति ज्ञान का स्मरण होकर अग्नि का निश्चय होता है। इसलिये व्याप्ति ज्ञान अनुमान और उसका स्मरण व्यापार है। प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में ज्ञानेन्द्रियों का संयोग ही व्यापार है। न्यायमत में व्याप्ति स्मरण के बाद एक और ज्ञान होता है जिसे लिङ्ग परामर्श कहते हैं जिसका स्वरूप इस प्रकार बताया जाता हैः— अग्नि धूम की व्याप्ति में धूम व्याप्य (कार्य) और अग्नि को व्यापक कहते हैं, जब कभी पर्वत आदि देशों में धुवें को देखते हैं तब व्याप्ति के स्मरण के बाद "अग्नि का व्याप्य जो धूम उससे युक्त यह पर्वत है" ऐसा ज्ञान होकर यह अनुभव उसके पश्चात् होता है कि यह पर्वत "अग्नि वाला है धूमयुक्त होने से पाकशाला के सदृश" इस प्रकार लिंग परामर्श से पक्षसाध्य हेतु और दृष्टान्त विशिष्ट क्रम से अनुमिति होती है, अतएव परामर्श ही इस मत में अनुमान

प्रमाण कहा जाता है। अनुमान के अङ्गों का विशेष वर्णन गौतमीय न्याय-दर्शन निरूपण प्रसंग में किया जायगा।

३—उपमान

प्रत्यक्ष व अनुमान के अनन्तर उपमान प्रमाण का अवसर आता है। संज्ञा में संज्ञा की वाच्यता का ज्ञान उपमान कहा जाता है जैसे-गाय के ही सदृश नीलगाय भी होती है इस वाक्य को सुनकर नीलगाय के अर्थ को न जानता हुआ मनुष्य जब जंगल में जाकर नीलगाय को देखता है तब संज्ञी (नीलगाय) में संज्ञा गवय पद के गाय की तुल्यता या सादृश्य का ज्ञान ही कारण रूप प्रमाण है। इसे ही उपमान प्रमाण तथा इस प्रभा को उपमिति कहते हैं। साँख्यकारिका में इस प्रमाण को पृथक् नहीं माना गया है "दृष्ट अनुमानमाप्त वचनं सर्वं प्रमाण सिद्धत्वात्, त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि" सा० का० ४; अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द यही तीन प्रमाण हैं, इन्हीं में अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है—योग दर्शन में भी "प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। योग १।७। तीन प्रमाण माने गये हैं, मनुस्मृति में भी तीन ही प्रमाण माने गये हैं। "प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता" मनु १। १०५। वास्तव में इन तीनों प्रमाणों से काम चल जाता है, उपमान को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं रहती है, तथापि भिन्न भिन्न दर्शनों में उपमान का पृथक् प्रमाणत्व है इसलिए उनकी शैली के अनुसार यहां लिख

दिया गया है, जो उपमान नहीं मानते हैं वे उसका अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं, कोई कोई वैधर्म्य ज्ञान में भी उपमान का उपयोग करते हैं।

४—शब्द प्रमाण

शब्द प्रमाण के विषय में महर्षि गौतम ने कहा है "आप्तोपदेशः शब्दः" १। १। ७। अर्थात् आप्त उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं, आप्त का अर्थ यथार्थ है। वह दो प्रकार का है, एक वेद दूसरा लोक में यथार्थ वक्ता का कहा हुआ भी शब्द प्रमाण माना जाता है। वेद निर्भ्रान्ति स्वतः प्रमाण होने से निरपेक्ष शब्द प्रमाण है। वेदानुकूल स्मृति, इतिहास, पुराण भी प्रमाण माने जाते हैं, महर्षि जैमिनि ने कहा है "विरोधेत्वनपेक्ष्यंस्यादसतिह्यनुमानम्" १। ३। २ श्रुति स्मृति के विरोध में स्मृति का त्याग होता है और स्मृति बचन उपलब्ध होने पर श्रुति का अनुमान होता है इसलिए श्रुति ही मुख्य प्रमाण है। व वेद, मन्त्र, ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त है जिसमें तत्व ज्ञान की प्रमाणता उपनिषदों में हैं। कर्मकाण्ड के भी मन्त्र संहिता एवं ब्राह्मण होने से वेदान्त और कर्मकाण्ड दोनों को समान रूपसे वैदिकत्व है, तथापि वेदका वास्तविक तात्पर्य उपनिषदों में ही हैं। कितने आधुनिक मतों में केवल मंत्र भाग या केवल वैदिक कर्मकाण्ड प्रतिपादक वेद भाग ही स्वतः प्रमाण या प्राचीन माना जाता है तथापि यह बात ऐसी नहीं है, कि ज्ञान काण्ड नवीन है, अथर्व—ब्रह्म सूक्त, पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त ज्ञान काण्ड के मुख्य प्रतिपादक संहिता भाग में ही विद्यमान हैं, उन्हीं

का विस्तार उपनिषदों में है। उपनिषद केवल ब्राह्मणों की ही नहीं है मंत्रोपनिषद भी हैं–ईश, मुण्डक, माण्डूक्य आदि मंत्रात्मक ही हैं। अतः उनके प्रमाणत्व में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं हो सकती है। प्राचीनमत मन्त्र और ब्राह्मण को समान रूप से वेद मानता है। "मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्" यह महर्षि कात्यायन का वचन है। इतना विशेष है कि एक विषय में मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों की समान रूप में प्राप्ति होने पर मन्त्र ही बलवान होता है।

५–अनुपलब्धि प्रमाण

इस प्रमाण को मीमांसक लोग मानते हैं। अनुपलब्धि या अभाव का प्रत्यक्ष न्यायमत में चक्षु इन्द्रिय से होता है। अतः अभाव का ज्ञान उनके मत में प्रत्यक्ष है। परन्तु मीमांसा के मत में नेत्र से भूतल मात्र का प्रत्यक्ष होता है, अभाव का प्रत्यक्ष अनुपलब्धि नामक पृथक प्रमाण से होता है। अभाव प्रत्यक्ष का कारण अनुपलब्धि (अप्राप्ति) है। नेत्र सहकारी कारण है और न्यायमत में नेत्र कारण और अनुपलब्धि सहकारी हैं। अभावों का स्वरूप वैशेषिक दर्शन के निरूपण प्रसङ्ग में कहा जायगा।

६–अर्थापत्ति प्रमाण

सम्पाद्य ज्ञान से सम्पादक का ज्ञान अर्थापत्ति कहलाता है, उसका साधन अर्थापत्ति प्रमाण है:–देवदत्त स्थूल है परन्तु दिन को भोजन नहीं करता। स्थूलता से स्थौल्य सम्पादक रात्रि भोजन की कल्पना होती है, इसे ही अर्थापत्ति कहते हैं। दृष्टार्थापत्ति और

श्रुतार्थापत्ति भेद से अर्थापत्ति के दो प्रकार हैं। दृष्टार्थापत्ति का उपर्युक्त उदाहरण है, श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण अपूर्व है क्योंकि वैदिक यज्ञ साधक सामग्रियों का अभाव (नाश) यहीं हो जाता है। उन क्रियाओं से अपूर्व नामक संस्कार उत्पन्न होकर यजमान को स्वर्ग पहुँचाता है। इस प्रकार अनुपपन्न स्वर्ग अपूर्व की कल्पना द्वारा सिद्ध होता है यही श्रुतार्थापत्ति है। अनुपलब्धि और अर्थापत्ति ये दोनों प्रमाण मीमांसक तथा वेदान्तियों ने माने हैं, इस प्रकार इन दोनों के मत में छै प्रमाण हैं। वेदान्त में "नेह नानास्ति किंचन" इस श्रुति से नानात्व रूप जगत का अभाव होने से अनुपलब्धि प्रमाण की सिद्धि होती है। तथा "तरति शोकमात्मवित्" उस श्रुति से आत्मवेत्ता शोक से पार हो जाता है, ऐसा प्रतिपादन होने से बन्ध के मिथ्यात्व की कल्पना होकर अर्थापत्ति प्रमाण की सिद्धि होती है।

७—ऐतिह्य प्रमाण

इस प्रमाण को पौराणिकों ने माना है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि "श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्। प्रमाणेष्वनवस्थानादविकल्पात् सविरज्यते" श्रीमद्भागवत ११। १९। १७ इस श्लोक में ऐतिह्य (इतिहासः) भी प्रमाण माना गया है। जैसेः— इस बट वृक्ष में यज्ञ रहता है। इस बात की प्रमाणता ऐतिह्य पर ही निर्भर है। राम-रावण के चरित्रों का प्रमाण भी ऐतिह्य से ही होता है, सांख्य शास्त्रियों ने इसे भी शब्द प्रमाण में ही मान लिया है।

८—सम्भव प्रमाण

इस प्रमाण को भी पौराणिकों ने ही माना है—इस की सिद्धि

इस प्रकार की जाती है—जैसे:—किसी के पास सौ रुपये हैं तो पचास की सम्भावना अवश्य ही है। इसका ज्ञान सम्भव प्रमाण से ही होता है। इसे भी अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं।

९—चेष्टा प्रमाण

इस प्रमाण को तांत्रिक मानते हैं। तन्त्र शास्त्र में कही हुई मुद्रायें जो भिन्न भिन्न देवताओं के प्रसन्नार्थ प्रयुक्त होती हैं, उन्हें ही चेष्टा प्रमाण कहते हैं, इसके अतिरिक्त हाथ, पांव, आंख, आदि की चेष्टाओं द्वारा विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति मालूम की जाती है। नाट्य शास्त्र में इसका उपयोग अधिक महत्व का है। जैसे नर्तक अनेक हाव भाव के द्वारा अनेक सार्थक भाव व्यक्त करता है—बिना चेष्टा प्रमाण के अन्य किसी प्रमाण द्वारा उसका रहस्य ठीक ठीक ज्ञात नहीं हो सकता।

इस प्रकार अपने अपने शास्त्रों की प्रक्रियाओं की सिद्धि के लिए भिन्न भिन्न शास्त्रों में इन प्रमाणों का विवेचन किया गया है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण चार्वाक के मत में है। प्रत्यक्ष और अनुमान बौद्ध, कणाद और जैन के मत में हैं। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द वैष्णव, शैव, शाक्त, सांख्य और योगी मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द और उपमान गौतम के मत में हैं—ये चार प्रमाण तथा अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भट्ट मीमांसक तथा नव्य वेदान्ती मानते हैं। सम्भव और ऐतिह्य पौराणिक मानते हैं। चेष्टा प्रमाण तांत्रिक का है। इस प्रकार प्रमाणों का संक्षेप है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक मत के प्रवर्तक श्रीवृहस्पति का उल्लेख अत्यन्त प्राचीन
मय से ही मिलता है । इस मत का बीज उपनिषदों में भी पाया
ाता है, रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें तो स्पष्ट इसका निरू-
ण किया गया है । इस मत में अर्थ और काम यही दो पुरुषार्थ हैं,
नसे भिन्न धर्म और मोक्ष का मानना व्यर्थ है, इसी आशय का
तिपादक एक श्लोक है जिसमें कहा गया है कि "यावज्जीवं सुखं
वेन्नास्ति मृत्योरगोचरः । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"
ब तक जीवे तब तक सुख पूर्वक जीवन को ब्यतीत करे, मरने के
चात् कोई सुख (स्वर्ग या मोक्ष) मिलेगा यह सम्भव नहीं । इस
में पृथ्वी, जल, वायु और तेज यही चार तत्त्व माने गये हैं ।
तत्त्वों का देहात्म परिणाम होने पर आत्मा एक नवीन वस्तु
ात होने लगती है—जैसे महुआ और गुड़ के मेल से मद्य नशा
न्न करने वाली नई वस्तु उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसे ही आत्मा है,
ीर से भिन्न आत्मा मानना ठीक नहीं क्योंकि प्रत्यक्षतः उसकी
ा का ज्ञान नहीं है । मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं इत्यादि अनुभव
ा शरीर को ही आत्मा बताते हैं । "मेरा शरीर है" यह जो भेद
होता है जैसेः—'सोने के आभूषण हैं, इसी प्रकार का है, क्योंकि
ा और आभूषण का सम्बन्ध कथन मात्र है, वास्तव में दोनों में
ः ही है । प्रत्यक्ष छोड़कर अन्य प्रमाणों का मानना ठीक नहीं ।
ा इन्द्रिय के संयोग से जो सुख प्राप्त होता है वही पुरुषार्थ है ।
ही नरक और लोक प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है एवं देह का

नाश ही मोक्ष है, जगत का कर्ता ईश्वर नहीं है, प्रत्युत् ईश्वर नामक कोई तत्व ही नहीं है, चारों तत्त्वों के अन्तर्गत स्वभाव नामक नियामक वस्तु से ही जगत का कार्य संचालित होता है ।। "अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्थानिलः, केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तस्य वास्थितिः" परलोक की गाथायें स्वार्थियों ने रची हैं, श्राद्ध, वेद भी उन्हीं की लीलायें हैं, वेद की प्रमाणता भी नहीं है क्योंकि उनमें मद्य मांस का सेवन बताया गया है। अश्वमेध प्रकरण का अश्लील भाषण तो उसकी अप्रमाणता का ज्वलन्त उदाहरण है, यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् । भस्मीभतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः । इसलिए स्वर्ग या मोक्ष की बातों को मानना सर्वथा अयुक्त है। Eat, drink and be merry वाला मत ही श्रेयस्कर है, अनुमान उपमान शब्द आदि प्रमाणों का खण्डन भी किया गया है जिसका विस्तार के साथ निरूपण माधवाचार्य ने सर्व दर्शन संग्रह में किया है। सिद्धान्त मात्र के प्रदर्शन की प्रतिज्ञा होने से उनका विशेष निरूपण नहीं हो सकता ।

जैन दर्शन

जैन सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त है जिन्हें श्वेताम्बर तथा दिगम्बर कहते हैं और भी कई उपसम्प्रदाय हैं तथापि सिद्धान्त में कोई मौलिक भेद नहीं है। "अहिंसा परमो धर्मः" इस वाक्य की हर प्रकार कार्यपूर्णता करना इनके हरएक सम्प्रदाय का लक्ष्य है । इसके तात्विक सिद्धान्तों का प्रतिपादन 'उमास्वाती कृत' तत्त्वार्थ

सूत्र में किया है जिसे समस्त जैन धर्मावलम्बी मानते हैं । प्रधानतः दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ जैन तत्त्व का निरूपण उत्तमता से करते हैं उन्हीं का आशय इस निबन्ध में लिया गया है, श्वेताम्बर जैनों का दिगम्बरों से आचार में भेद है, तत्त्व सिद्धान्त दोनों का एक ही है इसलिए दोनों का पार्थक्य न करते हुये सम्मिलित रूप से ही परिचय दिया जाता है । जैन मत में सात पदार्थ माने गए हैं जिन्हें तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार बतलाया गया है "जीवाजीवास्रवबन्ध संवर निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम" त० स० १ । ४ अर्थात्:—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यही तत्त्व या पदार्थ हैं जिनका क्रम से परिचय दिया जाता है:—

जीव तत्त्व निरूपण

जिसमें चेतनता हो, जो देखता, सुनता व जानता है उसे जीव कहते हैं । जीव छै प्रकार के हैं । एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय और मन सहित पाँच इन्द्रिय वाले, जिनका क्रम से ये उदाहरण हैं । एक इन्द्रिय वृक्ष, लता, गुल्म आदि; दो इन्द्रिय शंख, कौड़ी आदि; तीन इन्द्रिय चिउँटी, खटमल आदि; चार इन्द्रिय मक्खी; भौंरा; पतंग आदि; पञ्चेद्रिय समुद्र के कोई कोई सर्पादि और मन सहित पांच इन्द्रिय वाले गाय भैंस, बकरी, मनुष्य आदि ।

व्यवहार नय तथा निश्चय नय से पदार्थों का निश्चय किया जाता है । "निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।

भूतार्थ बोध विमुख्ः प्रायः सर्वोऽपि संसारः। व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुद्धय तत्वेन भवति मध्यस्थः। प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ५। ८) अर्थात् निश्चय नय सत्यं असली पदार्थ को तथा व्यवहार नय अभूतार्थ स्वरूप को बताती है। अर्थात्–अन्य निमित्तों से द्रव्य भाव परिणाम हुआ है, उसे व्यवहार नय बताती है। यह संसारी जीव प्रायः सत्य वस्तु को नहीं जानते, जो कोई व्यवहार एवं निश्चय नय से दोनों को ठीक ठीक समझ कर वीतराग हो जाता है वही शिष्य जैन वाणी के फल को पूर्ण रूप से प्राप्त होता है''। इसी प्रकार निश्चय नय एवं व्यवहार नय जीव की दो आस्थायें हैं। निश्चय से यह जीव ज्ञान भाव, वीतराग भाव का अनुभव करता है। और व्यवहार नय से यही जीव राग–द्वेष, मोहादि भावों का कर्ता है। निश्चय नय से यह जीव अमूर्त्तिक है क्योंकि रूप रस, गन्ध, स्पर्श आदि इस में नहीं है। व्यवहार नय यही मूर्त्तिक भी है क्योंकि जड़ कर्म का बन्धन हर एक संसारी आत्मा के अंश में है। इसके अतिरिक्त यह जीव आकार वाला भी है। परन्तु यह आकार चेतन मय है, जड़ नहीं। निश्चय नय से यह जीव असंख्यात प्रदेश वाला है। व्यवहार नय से शरीर के परिमाण बराबर हैं। इस विषय में तत्वार्थ सूत्र का प्रमाण है ''प्रदेश संहार विप्र सर्पाभ्यां प्रदीप वत्–(५।१६) अर्थ–एक जीव के प्रदेश लोक आकाश के समान हैं तथापि वे प्रदीप के प्रकाश के समान प्रदेशों में संकोच और विस्तार के होने से जैसा आधार हो वैसे ही संकोच विस्तार रूप प्रदेश वाले

हो जाते हैं।" जीवों की संख्या अनन्त है और यह परस्पर भिन्न २ हैं। इनके दो भेद हैं "संसारिणो मुक्ताश्च" २।१० इस प्रकार जैन धर्म में जीव तत्त्व का संक्षेप है। यह जीव स्वयं पाप पुण्य के अनुसार संसार में भ्रमण किया करता है अर्थात् कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है। हर एक जीव स्वभाव से सर्वज्ञ,सर्वदर्शी, अनन्तः सुखी परम शान्त है। योगसार ग्रन्थ में लिखा है "शुद्ध सचयेण बुद्ध जिण केवलणाण्णा सहाउ। सो अप्पा अणु दिण मुणहुजइ चहउ शिव लाहु" (३६ यो० सा०) आत्मा शुद्ध चेतना मय बुद्ध वीतराग केवल ज्ञान स्वभाव है। जो मोक्ष चाहते हो तो इसका मनन करते रहो। ये जीव के विशेष गुण हैं। संसारी जीवों में कर्म बन्धन होने से इनका प्रत्यक्ष नहीं होता। ये भाव मुक्त आत्माओं में ही है। इत्यादि-जैन मत में परमात्मा अनन्त हैं जिन्हें केवली कहते हैं। जो कोई अपने को शुद्ध कर ले वही परमात्मा हो सकता है।

(श्री हेमचन्द्राचार्य ने ईश्वर तत्त्व के एकता के विषय में परम उदारता का परिचय दिया है जो कि उनके निम्नोक्त पद्य से स्पष्ट होता है:-"भव बीजांकुर जनना रागाद्याक्षयमुपागता यस्य। ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनोवा नमस्तस्मै (१) यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया वीतदोष कलुषः सचेद् भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तुते" इसका स्मरण मान्यवर श्री विद्या विजयजी सूरिके द्वारा मुझे ज्ञात हुआ अतः उक्त मुनि जी सर्वथा धन्यवाद के पात्र हैं)।

एक ईश्वर इनके मत में नहीं है इसलिये जीवों के कर्मों का

फल दाता भी नहीं। बुरे भले कर्मों का फल जीव स्वतः भोगते हैं।

अजीव तत्त्व

जिनमें चेतन गुण नहीं उन्हें अजीव तत्त्व कहते हैं। अजीव तत्त्व पाँच प्रकार के होते हैं। (१) पुद्गल (२) धर्मास्तिकाय (३) अधर्मास्तिकाय (४) आकाश (५) काल। इनमें पुद्गल मूर्त्त, शेष चार अमूर्त्त हैं। इसका निर्णय उमा स्वामी ने किया है कि चार-आस्तिकाय और पाँचवाँ काल पदार्थ आस्तिकाय में नहीं है। "अजीवधर्माधर्माकाशपुद्गला:" (तत्त्व सूत्र १। ५) अर्थात् पुद्गालास्तिकाय,धर्मास्तिकाय,आकाशास्तिकाय ये अजीव काय हैं। "स्पर्श, रस, गन्धवन्तः पुद्गला:" (५।२३) "गति, स्थिति उपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः (५। १९) आकाशस्य अवगाहः" (५। १८) "वर्तना परिणाम क्रियापरत्त्वापरत्त्वेच कालस्य" (त० सू० ५।२२) अर्थात् जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध हों उन्हें पुद्गल कहते हैं। गमन करना, धर्म की स्थिति करना, अधर्म का अवकाश देना आकाश का गुण है, पलटाना काल का गुण है। अवस्था चाल तथा-कमती बढ़ती समय लगने से व्यवहार काल का ज्ञान होता है। इन छै द्रव्यों में से धर्म, अधर्म और आकाश एक एक है। काल असंख्यात है। जीव और पुद्गल अनन्त हैं। चार द्रव्य स्थिर रहते हैं। केवल जीव और पुद्गल में चलन क्रिया होती है। हर एक द्रव्य में एक सामान्य गुण प्रदेशत्त्व भी होता है। प्रदेश का लक्षण इस प्रकार है "जावदियं आयासं अविभागी पुद्गलाणु

बट्ठंद्धं। तंखु प्रदेसं जाणे सव्वाणु द्वाणु दाण रिह" अर्थात् जितने आकाश को अविभागी पुद्गल परमाणु घेरें उसको प्रदेश जानो। इसमें सूक्ष्म अनेक परमाणु भी समा सकते हैं। जैसे जहाँ एक दीपक की ज्योति हो वहां अनेक दीपक प्रकाश भी रहते हैं। "होंति असंख्या जीवे धम्मा धम्मे अनन्त काया सें। मुत्त ति विह-पदेसा कालस्से गोण तेण सो काओ" (द्रव्य संग्रह)। एक जीव में धर्म अधर्म में असंख्य, आकाश में अनन्त, पुद्गल में तीन प्रकार के प्रदेश होते हैं। काल का एक ही प्रदेश है। इसका काय नहीं है। पुद्गल के दो भेद है, जिन्हें परमाणु और स्कंध कहते हैं। परमाणु अविभाज्य हैं। कई एक परमाणु मिलके स्कंध बनाते हैं। इसलिए स्कंध परमाणु का कार्य है। यह दृश्यमान सारा जगत पुद्गल से ही बना हुआ है। पांच प्रकार के शरीर जिन्हें औदरिक, वैषयिक, आहारक, तैजस, और कार्मण कहते हैं तथा मन आदि इन्द्रियां भी पौद्गलिक ही हैं। इस प्रकार अजीव तत्त्व के विषय में विस्तार के साथ इन तत्त्वों का वर्णन जैन ग्रन्थों में लिखा गया है। यह उसका सार मात्र है।

आस्रव तत्त्व

"आसवदिजेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णे ओ। भावा सवो जिणुन्तो दव्वा सवणं परोहोदि" (द्रव्य संग्रह)। अर्थात् जिन आत्माओं के भावों से और क्रियाओं से पाप पुण्यमयी कार्मण वर्गणा खिचकर बंध के लिये आती हैं, उनको भावास्रव कहते हैं

और कार्मण वर्गणाओं का जो आगमन है उसे द्रव्यास्रव कहते हैं। भावास्रव के मुख्य पाँच प्रकार हैं (१) एकांत–पदार्थ में नित्य दोनों स्वभाव रहते हुये एक ही मानना, (२) विनय सत्यासत्य का निर्णय न करके सब मतों को कल्याण का साधक मानना (३) संशय–किसी एक सिद्धांत में आस्था न होना (४) अज्ञान–धर्म के सिद्धान्तों को न समझ कर देखा देखी मूर्खता से धर्म में चलना, (५) विपरीत–धर्म विरुद्ध बातों को धर्म मान लेना। यह आस्रव तत्त्व का संक्षेप है।

बन्ध तत्त्व

"उज्झदि कम्मं जेणद चेद्‌ण भावेण भाव बन्धोसी। कम्मोदय देसाणं अण्णोण्ण पवेसणं इदरो।" (द्रव्य संग्रह)। जिनके भाव और क्रिया हरकतों से कर्म वर्गणायें जो बन्धन को आती हैं आत्मा के पूर्व में बँधे हुए कर्मों के साथ मिलकर आत्मा के प्रदेशों में ठहर जाती हैं उनको भाव बन्ध और कर्मों का बन्ध रूप ठहर जाने को द्रव्य बन्ध कहते हैं। इस बन्ध के चार भेद हैं (१) प्रकृति बन्ध (२) प्रदेश बन्ध (३) उपस्थित बन्ध, (४) अनुभाग बन्ध, इनके और भी अनेक भेद हैं, जिनका विस्तार के साथ जैन ग्रन्थों में निरूपण किया गया है।

संवर तत्त्व

पूर्वोक्त आस्रव बन्ध के सम्बन्ध से आत्मा में बन्ध होता है। और संवर उसे कहते हैं जिससे कर्मों की निवृत्ति होती है। संवर

तत्त्व भी दो प्रकार का है (१) भाव संवर (२) द्रव्य संवर। जिन भावों से आस्रव को रोका जाय उन्हें भाव और वर्गणाओं के रुक जाने को द्रव्य संवर कहते हैं। इस संवर तत्त्व को ही लेकर नाना प्रकार के नियम–यम व व्रतादि की कल्पनायें जैन ग्रन्थों में की गई हैं। पांच व्रत जैसे सत्य, अचौर्य्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा और अपरिग्रह। पांच समिति (१) इर्या समिति–भूमि देखकर चलना, (२) भाषा शुद्ध वचन निर्दोष बोलना (३) एषण–शुद्ध भोजन जो गृहस्थ अपने कुटुम्ब के लिये बनाया हो उसमें से भिक्षा रूप जाकर भक्ति से देने पर लेना, (४) आदान–निक्षेपण सहित अपने शरीर या अन्य किसी वस्तु का उठाना या रखना सो देखकर या झाड़कर उठाना या रखना और (५) उत्सर्ग समिति–मल मूत्रादि जीव रहित स्थान पर करना। धर्म के दश लक्षण, तीन गुप्ती, बाईस परीषह जय, बारह भावना, पाँच प्रकार का चरित्र आदि साधन संवर तत्त्व के ही अन्तर्गत माने जाते हैं।

निर्जरा तत्त्व

जिन आत्मा के परिणामों द्वारा कर्म फल देकर या बिना फल दिये हुये आत्मा से झड़ जाते हैं वह भाव निर्जरा और कर्मों का झड़ना द्रव्य निर्जरा और जहां कर्म फ़ल झड़ते हैं उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। यथार्थ में पहिले बांधे हुये कर्मों का बिना फल दिए हुए तथा वीतराग भावों के द्वारा झड़ने को ही निर्जरा कहते

हैं। यही मोक्ष का कारण है! इसके अन्दर जैनियों के बड़े बड़े तपों का समावेश किया गया है।

मोक्ष तत्त्व

"अभावाद्बन्ध हेतूनां बन्ध निर्जयात्तथा, कृत्स्न कर्म प्रमोक्षोहि मोक्ष इत्यभिधीयते" (तत्त्व सार)। बन्ध कारणों के चले जाने से और बन्ध की निर्जरा हो जाने से समस्त कर्मों के छूट जाने का नाम मोक्ष है। जब कर्म बन्ध के कारण मिथ्या दर्शन अविरति प्रमाद, कषाय, योग सब वन्द हो जाते हैं या पहिले बँधे हुये कर्मों की निर्जरा हो जाती है तब यह सूक्ष्म और स्थूल शरीरों से छूट कर पूर्ण शुद्ध तत्त्व पाकर अन्तिम देह के आकार से कुछ कम सीधा ऊपर को गमन करता है और लोकाकाश के अन्त में सिद्ध क्षेत्र में ठहर जाता है "तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छति आलोकान्तात्" (तं०सू० १०।५) वहां उसी ध्यानाकार चैतन्यमय भाव में अन्य आत्माओं से भिन्न अपने सर्व गुणों को पूर्ण विकसित करता हुआ अनन्त अनिन्द्रिय सच्चे आनन्द में मग्न रहकर परम निराकुल, परम कृतकृत्य हो जाता हैं। इसी को परमात्मा परम ब्रह्म, परम प्रभु, ईश्वर, सर्वज्ञ, वीतराग, परम सुखी कहते हैं। आत्मा जैसा अन्तिम शरीर छोड़ते समय होता है, वैसा ही उसका चेतनामय आकार सिद्ध क्षेत्र में रहता है। शरीर के माप में नख केशादि का माप भी आ जाता है जिनमें आत्मा व्यापक नहीं है, उतना माप कम हो जाता है। यह मोक्ष विषय का संक्षेप है।

सप्तभङ्गी नय

जैन दर्शन का दृष्टिकोण तत्त्व निर्णय में अनेकान्तवाद को स्वीकार करता है। जिसका निरूपण इस प्रकार से करता है "वाक्ये नेकान्त द्योतिगम्यं प्रति विशेषकः स्यान्निपातो अर्थ योगित्वात् तव केवलिनामपि।१०३। स्याद वादः सर्वथैकान्त त्यागात् किं वृत्त चिद् विधिः सप्तभंग नया पेक्षो हेयादेय विशेषकः" (१०४ आप्तमीमांसा) स्याद एक अव्यय है जिसका अर्थ किसी अपेक्षा से है, यह स्याद शब्द वाक्यों में जोड़ने से यह दिखाता है, कि पदार्थों में अनेक धर्म हैं तथा वह वाक्य से जिस स्वभाव को कहता है उसकी मुख्यता करता है और स्वभावों को गौण करता है, ऐसा केवली महाराजों का मत है। यह स्याद्वाद सिद्धान्त सर्वथा एकान्त का त्याग कराने वाला है अर्थात्–वस्तु अनेक स्वभाव वाली है ऐसा न मानकर एक रूप ही है इस मिथ्यात्व को हटाने वाला है। इसी से किसी अपेक्षा से ऐसा है तथा मुख्य गौण की अपेक्षा से सात भङ्ग से कहने वाला है जिस बात को उस समय कहता है उसका ग्रहण तथा दूसरी बातों को उस समय छोड़ देता है" (आप्तमीमांसा) इस सप्तभंग के सात प्रकार हैं जिसकी योजना जैन सिद्धान्त में हर एक पदार्थ से की जाती है जैसे (१) स्यादस्ति–वस्तु किसी अपेक्षा से है। (२) स्यान्नास्ति–वस्तु किसी अपेक्षा से नहीं भी है। (३) स्याद अस्ति नास्ति च–वस्तु किसी अपेक्षा से है और नहीं भी (४) स्याद वक्तव्यः वस्तु नहीं कही जा सकती (५) स्यादस्ति

अवक्तव्यः–वस्तु है और किसी अपेक्षा से नहीं कही जा सकती (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्यः–वस्तु किसी अपेक्षा से नहीं है और कहीं भी नहीं जा सकती (७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यश्च–वस्तु हैं और नहीं भी और अवक्तव्य भी है। संक्षेप में यह जैन सिद्धान्त का दिग्दर्शन है।

बौद्ध दर्शन

महात्मा बुद्ध का सम्प्रदाय चार भेदों में विभक्त है, जिन्हें सौत्रान्त्रिक, वैभाषिक, विज्ञानाचार और माध्यमिक कहते हैं। बुद्धजी प्रधानतः शून्य वाद को ही मानते थे, परन्तु शिष्यों के योग्यतानुसार तीन भिन्न सम्प्रदायानुकूल भी उपदेश दिये हैं, परन्तु तात्पर्य शून्यवाद में ही है। बोधिचित्त विवरण में कहा है– "देशनालोक नाथानां सत्त्वाशय वशानुगाः। भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः ॥१॥ गम्भीरोत्तान भेदेन क्वचिच्चोभय लक्षणा। भिन्नापि देशनाऽशून्यता द्वयलक्षगा ॥ २ ॥ जिनमें सौत्रान्त्रिक, वैभाषिक सर्वास्तित्त्ववादी कहे जाते हैं। विज्ञानवादी अन्तर मात्र वस्तु को मानते हैं। शून्यवादी बाहर अन्दर दोनों ही नहीं मानते। सर्वास्तित्त्ववाद में खर स्वभाव वाली पृथ्वी, स्नेह स्वभाव वाला जल, उष्ण स्वभाव वाला तेज, प्रेरणा स्वभाव वाला वायु, इन्हें भूत तथा भौतिक कहते हैं। अपने अपने विषयों के सहित इन्द्रियां (१) रूपस्कन्ध (२) अहमाकार। इन्द्रिय जन्य बाह्य तथा आन्तरिक विषय विज्ञान स्कन्ध कहलाता है, (३) प्रिय

अप्रिय के अनुभव से रहित, सुख दुःख से भी रहित विशेष अवस्था जो चित्त की होती है उसे वेदना स्कन्ध कहते हैं। (४) विशेषण विशेष्य सम्बन्ध युक्त संज्ञा संसर्ग के प्रतिभास को संज्ञा स्कन्ध कहते हैं, जैसे गौर कृष्ण आदि (५) राग–द्वेष आदि क्लेश, मद मान आदि उपक्लेश, धर्म अधर्म संस्कार स्कन्ध कहे जाते हैं। इनके समुदाय को पञ्च स्कन्ध कहते हैं। बुद्ध-सिद्धांत में कोई स्थिर तत्त्व नहीं माना जाता । इस विषय में अर्थात् सब पदार्थों को क्षणिक मानने में सब बौद्ध एक मत हैं। प्रत्युत् चेतन का खण्डन किया गया हैं। इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। बुद्ध-सूत्र इसे इस प्रकार व्यक्त करता है, "उत्पादाद्वा तथा गतानामनुत्पादा द्वास्थितैषा धर्माणां धर्मता धर्मस्थितिता धर्म नियामकता प्रतीत्य समुत्पादानु लोमता" अर्थात् जो कुछ विषय विषयी रूप से या कारण कार्य रूप से प्रतीत हो रहा हैं वह सब धर्म धर्माभाव सम्बन्ध के अधीन मात्र साध्य हैं। भिन्न चेतन मानने की आवश्यकता नहीं। यह प्रतीत्य समुत्पाद हेतूप निबंध प्रत्ययोप निबंध भेद से दो प्रकार का है। बाह्य–अध्यात्म भेद से फिर दो भेद वाला है । जैसे बीज से अंकुर, अंकुर से पत्ते और पत्ते के बाद समस्त वृक्ष के अवयव उत्पन्न होते हैं। बीज के होने पर ही अंकुर होता है, बीज के न होने पर नहीं हो सकता है। इस प्रकार के कार्य कारण भाव को हेतूप निबंध कहते हैं। प्रत्ययोपनिबंध का उदाहरण इस प्रकार है, जैसे छः धातु के स्कन्ध से बीज से अंकुर उत्पन्न होता है उसमें कठिन भाग पृथ्वी का है, चिकनापन जल का, बीज को पकाने

वाला तेज का है, बीज से अंकुर को निकालने की गति प्रदान वायु से होती है, आकाश अवकाश प्रदान करता है ऋतु बीज परिणाम करता है, इस प्रकार सम्मिलित रूप से एक कार्य की सिद्धि होती है। यह वाक्य कहा जाता है। आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पाद के दो हेतु हैं उन्हें भी हेतूपनिबंध और प्रत्ययोपनिबध कहते हैं, हेतू-पनिबंध इस प्रकार है। अविद्या से संस्कार जन्म मरण आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं, यदि अविद्या न हो तो संस्कार नहीं हो सकते। यदि जन्म न हो तो जरा व मरण क्लेश नहीं हो सकते। सबके कारण अविद्या के रहने पर स्वतन्त्र रूप से अर्थात् किसी अन्य अधिष्ठाता चेतन के बिना ही कार्य कारण भाव आन्तरिक अनुभव वेद्य है। प्रत्ययोपनिबंध इस प्रकार है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान धातु इनके मेल से काय या शरीर होता है। शरीर की कठिनता पृथ्वी से बनती है, चिकनापन जल से, खाने पीने का परिपाक अग्नि से, श्वास-प्रश्वास वायु से, शरीर में छिद्र रूप अवकाश प्रदान करके व्यवहार की नियामकता आकाश से सिद्ध होती है। जिससे नाम रूप पंच विज्ञान मनोविज्ञान उत्पन्न होते हैं। उसे ही विज्ञान धातु कहते हैं। जब ये आध्यात्मिक धातुयें साम्यरूप से रहती हैं तभी काय की उत्पत्ति होती है। परन्तु इस प्रकार का परस्पर पदार्थों का अनुभव नहीं होता कि हमारे साथ इस प्रकार का प्रत्ययोपनिबन्ध है। जो इन धातुओं के समवाय में पिण्ड संज्ञा, नित्य संज्ञा, सुख संज्ञा, सत्व संज्ञा पुद्गल संज्ञा मनुष्य माता पिता अहंकार ममकार संज्ञायें होती हैं, यही अविद्या है जो

संसार रूप अनर्थ का कारण है, इस अविद्या में रागद्वेष मोहात्मक संस्कार रहते हैं और विषय में प्रवृत्त करते हैं। वस्तु विषय विज्ञप्ति को विज्ञान कहते हैं, विज्ञान के संसर्ग से गर्भ द्रव्य कलल बुद्बुद् आदि द्वारा नाम रूप को धारण करता है, इसकी अभिव्यक्ति क्रम से षडायतन शरीर नाम रूप इन्द्रियों का परस्पर मेल स्पर्श, स्पर्श से वेदना इससे अनुकूल में तृष्णा तत्पश्चात् उसकी प्राप्ति में शरीर वाक् चेष्टा रूप उपादान होता है। इससे जन्म फिर धर्माधर्म फिर स्कन्ध प्रादुर्भाव, स्कन्धों का परिपाक जरास्कंध नाश मरण, मरने वाले मूढ़की जिसकी कि आशक्ति देह गेह में होती है उससे शोक और शोक से नाना प्रकार के दुःखों का उद्गम होता है। सौत्रांतिक वैभाषिक मत का यह संक्षेप है। विज्ञानवाद में विषय (पदार्थ) भी विज्ञान का रूपान्तर है। उक्त मत विज्ञानवाद में भी माना जाता है; परन्तु उक्त मत में विषय और ज्ञान भिन्न हैं। विज्ञानवाद में अभिन्न हैं। विज्ञान दो प्रकार का है:—प्रवृत्ति विज्ञान तथा आलय विज्ञान। घटपट रूपसे भाषित प्रवृत्ति विज्ञान एवं अहमाकार भाषित आलय विज्ञान कहा जाता है। कितने ही विद्वानों का मत है कि बुद्धजी केवल एक विज्ञान स्कन्धवादी थे। शून्यवाद में आदि कारण शून्य माना जाता है। मध्यकाल में शून्य से भिन्न जो पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं वे भ्रममात्र हैं; अन्त में सब शून्य ही हो जायगा; इत्यादि तत्त्वज्ञान में बौद्ध दर्शन का संक्षेप है। यह दार्शनिक विज्ञान भगवान बुद्ध को बुद्धगया में कड़ी तपस्या से ज्ञात हुआ था, जिसे अभिधम्म कहते हैं। विनय पिटक में इसका वर्णन किया गया है

इसी का सारनाथ में आकर बुद्ध ने प्रचार किया था। खुद्दक निकाय के उदान नामक ग्रन्थ के बोधिसुत्त के प्रथम तीन सूत्रों में अभिधम्म का तत्त्व संक्षिप्त रूप में कहा गया है 'एवं मेसुतं—एक समयं भगवा उरुवेलायं बिहरतिनज्जाने रज्जनायतीरे बोधिरुक्खमूले पठमाभिसम्बुद्धो। तेनखोपन समयेनभगवा एकपल्लङ्केन निसिन्नो होती विमुत्तिसुखं पटिसंवेदी। अथखोभगवा तस्ससत्ताहस्स अच्चयेन तम्हासमाधिम्हा बुट्ठ हित्वा रत्तिया पठमंयाम परिच्चसमुप्पाद अनुलोमंसाधुकं मनसाकासि इतिः—इमस्मिंसति इदं होती इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जाते यदिदं अविज्जापच्चयासङ्खारा संखारपच्चया विञ्ञाणं 'विञ्ञाणपञ्चयानामरूपं नामरूप पच्चया सडायतनं सडायतन पच्चया फस्सो फस्स पच्चया वेदना वेदनापच्चयातण्हातण्हा पच्चया उपादानं उपादान पच्चया भवो भवपच्चया जाति जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेव दुक्ख दोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति एवं एतस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होतीति' इस सूत्र का अर्थ ऊपर आ गया है इसमें अनुलोमक्रम से दुःख कैसे अविद्या से उत्पन्न होता है। सुन्दर रीति से बताया गया है। शेष दो सूत्रों में निरोध और समुत्पाद बताये गये हैं। जिनका तत्त्व यही है कि किसके निरोध से क्या निरुद्ध होता है। प्रतिलोम रीति से अविद्या निरोध से संस्कार निरोध, संस्कार निरोध से विज्ञान निरोध के क्रम से सभी अविद्याजन्य तत्त्वों का निरोध होकर निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अनुलोम प्रति लोम क्रम से समुत्पाद भी है। अभिधम्मथ संग्रह नामक अनुरुद्धाचार्य के ग्रन्थ में चित्त चैतसिक, रूप और निर्वाण के भेद से बड़े विस्तार

के साथ उक्त वर्णन किया गया है। बुद्ध धर्म का निर्वाण प्राप्त करना ही अन्तिम लक्ष्य है, जिसका लक्षण इस प्रकार किया गया है "पदच्चुतमच्चन्तं असंखत मनुत्तरं । निव्वानमिति भासन्ति वानमुत्ता महेसयो । (अभि ६-३१) अर्थात् तृष्णा रहित सिद्ध पतन रहित, अन्तरहित कर्मादि की तरह विनाश से रहित लोकोत्तर स्थान को निर्वाण कहते हैं। व्यवहार में अहिंसा, त्याग, वैराग्य, सन्यास योगाभ्यास आदि साधनों का उपदेश देकर निर्वाण पदवी के प्राप्ति के साधनों का उपदेश दिया गया है जो कि सर्वमान्य सिद्धान्त हैं। वेद, ईश्वर की प्रामाणिकता इस मत में नहीं है। कर्मकाण्ड, जन्म से जातिभेद, प्रकृति पुरुष विवेकादिकों का निर्णय भी इस सिद्धान्त में नहीं है इसलिये इसे वेदबाह्यमत कहा जाता है।

वैशेषिक दर्शन-४

सप्तपदार्थ तथा द्रव्य निरूपण-१

महर्षि कणाद के मत में छः पदार्थ माने गये हैं जिन्हें वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार कहा गया है "धर्म विशेष प्रसूताद् द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानाँ साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान् निःश्रेयसम्" (वै. द. १-१-४) अर्थात् द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय इन पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य द्वारा तत्त्वज्ञान होकर मोक्ष होता है। जिनमें से द्रव्य पदार्थ नौ प्रकार का है; 'पृथिव्यपस्तेजोवायुराकाशंकालो दिग् आत्मा मन इति द्रव्याणि (१-१-५) पृथिवी जल तेज वायु आकाश काल दिशा

आत्मा और मन ये द्रव्य कहे जाते हैं। जिनमें क्रिया और गुण हों तथा कार्य द्रव्य का जो सम वायिकारण(मूल कारण) हो उसे द्रव्य कहते हैं। 'क्रियागुणवत् समवायिकारणमितिद्रव्य लक्षणम्, (वै. द. १-१-१५) जिनमें पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चारों द्रव्य नित्य अनित्य भेद से दो प्रकार के हैं। परमाणु रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य हैं इन चारों कार्य द्रव्यों का विभाग होते होते अन्त में जिसका विभाग नहीं हो सकता उसे ही परमाणु कहते हैं, 'जालान्तर्गते भानौसूक्ष्मंयद्दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुरुदीरितः' झरोखे के अन्दर जो सूर्य की किरणों का प्रकाश दिखाई देता है और उसके अन्दर जो छोटे छोटे कण दिखाई देते हैं उसके छठवें भाग का नाम परमाणु है। वैशेषिक मत से यही परमाणु इस जगत के समवायि कारण अर्थात् मूल कारण है। उनका परस्पर संयोग असमवायि कारण है, काल ईश्वर दिशा आकाशादि निमित्त कारण हैं। वैशेषिक मत में प्रत्येक कार्य में यही तीन कारण माने जाते हैं। काल, दिशा, आत्मा, मन और आकाश ये नित्य द्रव्य हैं। काल, दिशा और आकाश एक एक और विभु हैं। उपाधिभेद से इनमें भी अनेकत्त्व का व्यवहार होता है। सुख दुःख की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय मन है। वह अनेक नित्य तथा अणुपरिमाण वाला भी है। आत्मा दो प्रकार का है जिसे जीवात्मा तथा ईश्वर कहते हैं। ज्ञानाधिकरणमात्मा सद्विविधः जीवात्मा परमात्मा च तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च' तर्क संग्रह। ज्ञान का

आश्रय आत्मा है वह जीव तथा ईश्वर के भेद से दो प्रकार का है उसमें ईश्वर एक, व्यापक और सर्वज्ञ हैं; जीव अनेक विभु परिमाण और प्रति शरीर में भिन्न भिन्न है। ज्ञान के अतिरिक्त सुख, दुःख इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि गुण भी आत्मा में रहते हैं जीव में ये गुण अनित्य हैं ईश्वर में दुखः द्वेषादि नहीं हैं।

गुण पदार्थ–२

द्रव्य के पश्चात् गुण पदार्थ का स्वरूप इस प्रकार काणाद नैय्यायिक मानते हैं "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग विभागेष्वकारण मनपेक्ष इति गुणलक्षणम्" वै. द. १–१–१६ द्रव्य के अधीन गुण में गुणरहित, संयोग विभाग का अकारण अर्थात् अपेक्षा रहित जो कारण है उसे गुण कहते हैं। संक्षेप में इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं "गुणवद् भिन्नः कर्मान्यो यः सामान्यवान् सगुणः' अर्थात् द्रव्य कर्म से भिन्न गुणत्व जाति वाले को गुण कहते हैं। ऐसा गुण लक्षण मानने से उत्पत्ति क्षण में द्रव्य में गुण न रहने पर भी लक्षण समन्वय हो जाता है क्योंकि उत्पत्ति क्षण में उत्पन्न कार्य द्रव्य निर्गुण और निष्क्रिय होता है। गुण चौबीस हैं "रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्वसंयोग विभाग, परत्वापरत्व गुरुत्व द्रवत्व, स्नेह, शब्द बुद्धि सुख दुःख इच्छा प्रयत्न द्वेष धर्माधर्म संस्काराश्च चतुर्विंशतिर्गुणाः" (तर्क संग्रह) इन गुणों को नैय्यायिक द्रव्य से बिल्कुल पृथक् मानते हैं। द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को समवाय कहते हैं जिनमें रूप रस गन्ध, स्पर्श और शब्द पृथिवी में रहते हैं,

गन्ध पृथिवी का खास गुण ; शेष अन्य भूतों से पृथ्वी में आये हैं। रूप, रस, शब्द और स्पर्श गुण जल में हैं जिसमें रस, जल का विशेष गुण है। रूप स्पर्श और शब्द अग्नि में जिसमें रूप अग्नि का विशेष गुण है। शब्द और स्पर्श वायु में जिसमें स्पर्श वायु का विशेष गुण हैं। शब्द मात्र गुण आकाश में रहता है। सख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग विभाग ये नवो द्रव्य में रहते हैं। परत्वापरत्व काल और दिशा में रहते हैं। गुरुत्व और द्रवत्व पृथिवी जल और तेज में रहते हैं। स्नेह केवल जल से रहता है। बुद्धि से लेकर भावना नामक संस्कार तक आठों गुण आत्मा में रहते हैं। संस्कार तीन तरह के होते हैं। भावना, वेग और स्थिति स्थापक, वेग पृथिवी जल तेज मन और वायु में रहता है। स्थिति स्थापक पृथ्वी में। इस प्रकार की व्यवस्था द्रव्य के साथ की गई है। विस्तार भय से गुणों के लक्षण और भेद यहां नहीं लिखते क्योंकि सिद्धान्त मात्र के प्रदर्शन का उद्देश्य है।

कर्म पदार्थ-३

कर्मत्व व्याप्य जाति वाले को कर्म कहते हैं जो कि प्रत्यक्ष चलनादि क्रियाओं को देखकर निश्चय होता है। कर्म पांच प्रकार के होते हैं जिन्हें (१) उत्क्षेपण अर्थात् ऊपर को फेंकना (२) अपक्षेपण अर्थात् नीचे को फेंकना (३) आकुञ्चन अर्थात् संकोचत्व को प्राप्त होना (४) प्रसारण अर्थात् फैलाना (५) गमन अर्थात् चलना। इस कर्म विभाग का गमन में ही अन्तर्भा

कर दिया जाता है। अतः एक धमन ही कर्मपद वाच्य है।

सामान्य पदार्थ–४

'नित्यत्वेसति अनेक समवेतत्वम्' अर्थात् जो नित्य होता हुआ अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहे वह सामान्य या जाति है। इसे ही गौतम सूत्र में 'समान प्रसवात्मिका जातिः' (न्या. द. २-२-७१) कहा है। जाति पदार्थ दो प्रकार का है पर जाति तथा अपर जाति। पर जाति द्रव्य गुण और कर्म में रहती है। अपर जाति केवल द्रव्यत्व गुणत्व कर्म स्वरूप से एक एक करके द्रव्य, गुण, कर्म में रहती है। श्रीउदयनाचार्य ने निम्नोक्त अवस्था में जाति के अभाव को भी बतलाया है "व्यक्तरेभेदस्तुल्यत्वं संकरोथा नव-स्थितिः। रूप हानिरसम्ब्रन्धो जाति बाधक संग्रहः" अर्थात् जहां व्यक्ति का अभेद हो जैसे आकाश में घटाकाश मठाकाश के भेद से अनेकता रहते हुये भी घटाकाशत्व और मठाकाशत्व जाति नहीं है, क्योंकि आकाश व्यक्ति का अभेद है। तुल्यत्त्व जैसे घटत्त्व और कलसत्त्व दो जाति नहीं हैं। संकर–मूर्तत्त्व और भूतत्त्व के मेल से शरीर होने से शरीरत्त्व जाति नहीं है। पृथिवी जल तेज वायु और मन मूर्त कहाते हैं पांचों भूतों को भूत पद से व्यवहार होता है। विशेष पदार्थ में विशेषत्त्व जाति नहीं है क्योंकि सबके भेदक विशेष पदार्थ की रूप हानि हो जायगी। समवाय और अभाव में सम्बन्ध का अभाव होने से अभावत्त्व, समवायत्त्व जाति नहीं हैं। यह जाति पदार्थ का संक्षेप है।

विशेष पदार्थ–५

'अन्त्यो नित्य द्रव्य वृत्तिविशेषः परिकीर्तितः' (सि. मुक्ता०) अर्थात् जो नित्य द्रव्यों का भेदक है जिससे पदार्थ मिलकर परस्पर संकीर्ण नहीं हो पाते उसे विशेष कहते हैं, वह अनन्त हैं। नव्य-नैयायिकों ने इसे नहीं माना है। इसी पदार्थ को मानने से इस दर्शन को वैशेषिक कहते हैं।

समवाय पदार्थ–६

नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। सिद्धान्त मुक्तावली में कहा है 'घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुण कर्मणोस्तेषुजातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः अर्थात् कपाल में घटका द्रव्य में गुण कर्म का जातिव्यक्ति क्रिया क्रियावान् का जो परस्पर सम्बन्ध है उसे समवाय कहते हैं।

इन छः पदार्थों के अतिरिक्त अभाव नामक सातवाँ पदार्थ वैशेषिक सिद्धान्त में माना जाता है। किरणावली में श्रीउदयनाचार्य ने कहा है 'एते च पदार्थाः प्रधानतया उद्दिष्टा अभावस्तु स्वरूपवानपिनोद्दिष्टः प्रतियोगिनिरूपणाधीनत्वान्नतु तुच्छत्वात्' अर्थात् सातवां अभाव नामक पदार्थ भी है। उद्देश्य में न कहने से उसका अनङ्गीकार नहीं समझना चाहिये, क्योंकि भावपदार्थ निरूपण के अधीन ही अभाव का निरूपण होता है; इसीलिये इसे पृथक् सूत्र में नहीं कहा गया है। अभाव पांच प्रकार के हैं। प्रागभाव (१) प्रध्वंसा भाव (२) अत्यन्ता भाव (३) सामयिका भाव

(४) और अन्योन्या भाव (५) पूर्व के चारों अभावों को संसर्गा भाव भी कहते हैं। कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कारण में जो कार्य का अभाव है उसे प्राग भाव कहते हैं। जैसे कपाल में घटका अभाव। घट के नष्ट होने पर जो घटाभाव है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। तीनों काल में जिसका भाव न हो उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं जैसे वन्ध्या पुत्रादि। उत्पत्ति विनाशशील अभाव को सामयिकाभाव कहते हैं जैसी घटकों भूतल में लाने पर घटाभाव नष्ट हो जाता है तथा घट को हटा लेने पर अधिकरण भूतल में उत्पन्न होता है। भेद के प्रतिपादक अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं जैसे घट में पट का अभाव: इस प्रकार का अभाव पदार्थ का स्वरूप है।

आरम्भवाद-७

परिणाम या विवर्त वैशेषिक सिद्धान्त में सृष्टि व्यवस्था के लिये नहीं माना जाता, वैशेषिक सृष्टि क्रम को आरम्भवाद से सिद्ध करते हैं। जिसे इस प्रकार कहा जाता है; परिणामवाद की तरह कार्य पहले से ही कारण में नहीं रहता प्रत्युत नवीन आरम्भ होता है। सत् से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है। पहले जो परमाणुओं का स्वरूप कहा गया है उनमें ईश्वर की इच्छा से क्रिया होकर द्वयणुक, त्रसरेणु के क्रम से पृथिवी, जल, तेज और वायु की उत्पत्ति होती है। यह सारा जगत परमाणुओं से ही उत्पन्न हुआ है एवं प्रतिक्षण बदलने वाला है। इसी प्रकार प्रलय की इच्छा से कार्य

द्रव्यों में विभाग होकर सारा कार्य विनष्ट हो जाता है केवल जगत के कारण परमाणु नित्य रूप से रह जाते हैं। आचार्य ने कहा है "सदकारणवन्ननित्यम्" वै. द. ४-१-१ अर्थात् परमाणु नित्य और सत्य हैं क्योंकि उनका और कोई कारण नहीं है। आरम्भ का दृष्टान्त इस प्रकार भी दिया जाता है:—जब गाय घास चरती है तब घास उसके पेट में जाकर विभक्त होकर घास के अणुओं में दुग्ध के आरम्भक परमाणुओं में दूध आरम्भ होता हैं। दूध से दही का आरम्भ दही से घृत का आरम्भ होता है इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का आरम्भ नया नया हुआ करता है। इसी को आजकल की भाषा में **Atomic theory of Creation** कहते हैं। पीलुपाकवाद एवं पिठरपाकवाद नैय्यायिकों का सिद्धान्त भी आरम्भवाद का निदर्शन है।

प्रयोजन—८

अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति करना ही धर्म का प्रयोजन है, धर्म दो प्रकार का है प्रवृत्ति तथा निवृत्ति। वेद शास्त्रानुसार प्रवृत्ति धर्म का पालन ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने वाला है जो कि स्वर्ग सुखरूप है। निवृत्ति धर्म सप्त पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य ज्ञान द्वारा मोक्ष को प्रदान करता है। संक्षिप्त रूप में पदार्थों का साधर्म्य कहा जा चुका है उसका विशेष निरूपण यहां नहीं हो सकता केवल पदार्थ ज्ञान का प्रयोजन ही यहाँ पर बताते हैं। "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुति

में मुमुक्षको आत्मसाक्षात्कार तथा उसके उपयोगी साधनों का निर्देश किया गया है। गुरु द्वारा आत्मोपदेश सुनकर शरीरादि से विलक्षण आत्मा को जान लेने पर भी तर्क द्वारा उसे निश्चय करने में मनन का उपयोग है इसके बाद योग विधि के सम्पादन से आत्मसाक्षात्कार होने पर 'अहं मम' रूप अभिमान नष्ट होने पर धर्माधर्मादि के अभाव होने पर चरम दुःख ध्वंसरूप मोक्ष होता है। इस प्रकार मोक्ष का साक्षात्साधन पदार्थ ज्ञान है कर्मानुष्ठान निष्काम रूप से करने पर हृदय शुद्धि का कारण है। हृदय शुद्ध होने पर ज्ञान होता है। क्रम समुच्चय ही वैशेषिक सिद्धान्त है। संचित क्रियमाण आदि कर्मों की निवृत्ति ज्ञान से ही होती है। प्रारब्ध कर्मों का विनाश भोग से होता है। सिद्धान्त मुक्तावली में कहा है "इमौतुवासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः" (सि० मु० १६४) संक्षेप में यह वैशेषिक मत का सार है।

न्याय दर्शन–९

प्रमेय–१

महर्षि गौतम का सिद्धान्त प्रायः महर्षि कणाद के मतानुसार ही है। केवल तत्त्व विचार की शैली पर ही न्याय दर्शन में मुख्यतः विचार किया गया है। कुछ बातों में अवान्तर भेद भी है "प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति निग्रहस्थानानां तत्त्व ज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः (न्या० द० १–१–१) सूत्र में जो सोलह पदार्थ कहे गये हैं उन्हीं के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष होता है। उसका क्रम इस प्रकार है

जिसे महर्षि दूसरे सूत्र में लिखते हैं 'दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या. द. १-१-२) अर्थात् मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने पर दोष नष्ट होते हैं । दोष नष्ट होने पर प्रवृत्ति नहीं होती प्रवृत्ति न होने पर जन्म का अभाव होता है। जन्म न होने से दुःख नहीं होता और दुःख का अत्यन्ताभाव ही अपवर्ग है। अपवर्ग की प्राप्ति ही तत्त्व ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य है। कोई कोई सूत्र का अर्थ ऐसा करते हैं। जन्म नाश से दुःख नाश, दुःख नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति नाश से दोष नाश, दोष नाश से मिथ्या ज्ञान का नाश और मिथ्या ज्ञान के नाश से अपवर्ग होता है। इस शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण माने जाते हैं जिन्हें प्रमाण निरूपण में कह आये हैं। दूसरा पदार्थ प्रमेय है जिसे इस प्रकार कहते हैं "आत्म शरीरेन्द्रि-यार्थ बुद्धिमनः प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव फल दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्" (न्या. १-१-९) आत्मा शरीर इन्द्रिय अर्थ बुद्धि मन प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव, फल दुःख और अपवर्ग ये प्रमेय कहे जाते हैं। इच्छा, द्वेष सुख दुःख प्रयत्न और ज्ञान आत्मा के लिङ्ग हैं। क्रिया, इन्द्रिय और अर्थ के आश्रय को शरीर कहते हैं। पंचभूतों से उत्पन्न हुई घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र को इन्द्रिय कहते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचभूत हैं। इन पांचों भूतों के गन्ध रस स्पर्श रूप और शब्द गुण हैं इन्हें ही अर्थ कहते हैं। बुद्धि को ज्ञान कहते हैं। एक साथ अनेक ज्ञान का न होना मन का लिङ्ग है। वाणी, बुद्धि और शरीर के आरंभ को प्रवृत्ति कहते हैं।

प्रवृत्ति के कारण (राग, द्वेष, मोह) को दोष कहते हैं। मर कर फिर उत्पन्न होना प्रेत्यभाव है। प्रवृत्ति दोष से उत्पन्न अर्थ को फल कहते हैं। पीड़ा होना दुःख का स्वरूप है। दुःख का अत्यन्त उच्छेद अपवर्ग कहाता है।

संशय—३

"समानानेक धर्मोपपत्तिरुपलब्धिअनुपलब्धि अवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" न्या. द. १-१-२३-(१) अंधेरे में जैसे सूखे वृक्ष को देखकर यह संदेह होता है कि यह पुरुष है या ठूँठ है इस उभय कोटि अवगाही ज्ञान को संशय कहते हैं (२) विप्रत्तिपत्ति-अर्थात् परस्पर विरोधी पदार्थों के साहचर्य से भी संशय होता है। जैसे कोई वादी कहे कि आत्मा है दूसरा कहे कि नहीं है इस अवस्था में सत्ता और असत्ता एकत्र नहीं रह सकती इसलिये यह भी संशय कोटि ही है (३) उपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है जैसे सत्य जल कुयें, नदी आदि में, असद् जल मृग तृष्णा में प्रतीत होता है इसलिए यह भी संशय है (४) अनुपलब्धि (अप्राप्ति-अज्ञान) की अवस्था से भी संशय होता है जैसे स्वर्ग आदि।

प्रयोजन—४

'यमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' न्या. १-१-२४ जिस किसी वस्तु को ग्रहण या त्याग रूप से निश्चय किया जाय उसे प्रयोजन कहते हैं।

दृष्टान्त–५

'लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धि साम्यं सदृष्टान्तः' न्या. १–१–२५ शास्त्र ज्ञान रहित सामान्य लोगों का और विद्वान् पण्डितों का जिस विषय में मतभेद न हो उसे दृष्टान्त कहते हैं।

सिद्धान्त–६

"तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः" न्या० १–१–२६ अर्थात् शास्त्र के निर्णय किये हुये अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धांत के चार भेद हैं (१) सर्वतन्त्र (२) प्रतितन्त्र (३) अधिकरण (४) और अभ्युपगम। सर्वतन्त्र उसे कहते हैं जो सिद्धान्त किसी शास्त्र में अङ्गीकृत हो और सब शास्त्रों से जिसका विरोध न हो। प्रतितन्त्र उसे कहते हैं जो एक शास्त्र में सम्मत हो और अन्य शास्त्र से विमत हो। अधिकरण उसे कहते हैं जिसके सिद्ध होने से अन्य अर्थ की सिद्धि हो जैसे देह इन्द्रिय से भिन्न कर्त्ता भोक्ता आत्मा की सिद्धि बिना देह इन्द्रियों का व्यवहार असम्भव है। अभ्युपगम-परीक्षा के बिना किसी वस्तु को स्वीकार करके पुनः उस वस्तु की विशेष परीक्षा को अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। अर्थात् वादी के सिद्धान्त की असत्यता को सत्यरूप से स्वीकार करके भी उसका मिथ्यात्व सिद्ध करते समय इसका उपयोग होता है।

पंचावयव–७

'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय निगमनान्यवयवाः' न्या. १–१–३२ अर्थात् प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन ये पंचावयव कहे

जाते हैं। साध्य कथन को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे पर्वत अग्नि वाला है इत्यादि। उदाहरण की तुल्यता से साध्यसाधन को हेतु कहते हैं। जैसे पर्वत अग्नि वाला है धूम की वजह से इसलिये धूम हेतु है। उदाहरण से विपरीत वाला भी हेतु होता है जैसे जो उत्पत्ति वाला है वह अनित्य है और जो उत्पत्ति रहित है वह अनित्य नहीं जैसे आत्मा। यहां आत्मा के नित्य रूप विरोधी धर्म से उत्पत्ति वाले पदार्थ को अनित्य बताया गया है। साध्य के साथ समानता से साध्य का धर्म जिसमें हो उस दृष्टान्त को उदाहरण कहते हैं। जैसे जो उत्पन्न है वह नाश वाला है जैसे पट। इसी प्रकार उत्पत्ति धर्म वाले घट में भी पट की ही तरह अनित्यता तुल्य है इसलिये पट उदाहरण है। पक्ष, साध्य, हेतु और उदाहरण इन्हीं चारों से अनुमान होता है। अन्वयि-दृष्टान्त से विपरीत व्यतिरेकी दृष्टान्त माना जाता है। जैसे पृथिवी इतर द्रव्यों से भिन्न है, गन्ध वाली होने से जो इतर भेद वाला नहीं है वह गन्ध वाला भी नहीं है जैसे जल। उदाहरणाधीन 'तथा' वान तथा इस रूप से साध्य के उपसंहार को उपनय कहते हैं, प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण और उपनय एकत्र जिसमें समर्थित हों उसे निगमन कहते हैं, पांचों अवयवों का स्पष्ट वर्णन इस प्रकार है जैसे घट अनित्य है (प्रतिज्ञा) उत्पत्ति धर्म वाला होने से (हेतु) जैसे उत्पत्ति धर्म वाला पट अनित्य है (दृष्टान्त या उदाहरण) ऐसे ही घट उत्पत्ति धर्म वाला है (उपनय) इसलिये उत्पत्ति धर्म वाला होने से घट अनित्य सिद्ध हुआ (निगमन) इन पांचों अवयवों का उपयोग शास्त्रार्थ में होता है।

तर्क–८

'अविज्ञात तत्त्वे अर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' न्या० १–१–४० अर्थात् अज्ञात अर्थ में हेतु की उपपत्ति से तत्त्व ज्ञान के लिये किये हुये विचार को तर्क कहते हैं जैसे अग्नि न हो तो धूम भी नहीं हो सकता।

निर्णय—९

'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्था वधारणं निर्णयः' न्या० १–१–४१ अर्थात् साधन और निषेधका विचार करके जो निश्चय हो उसे निर्णय कहते हैं।

वाद—१०

'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्त विरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहोवादः' न्या० १–२–१ अर्थात् पक्षप्रतिपक्षका ग्रहण जिसमें हो अपने अपने पक्ष का प्रमाण पूर्वक स्थापन और प्रतिपक्षका तर्क से निषेध सिद्धान्त का विरोधी न होते हुये पञ्चावयवों से युक्त हो उस कथा को वाद कहते हैं।

जल्प–११

जब वाद में छल जाति निग्रहस्थान का प्रयोग हो तब उसे जल्प कहते हैं 'उभय साधनवती विजिगीषुकथाजल्पः' विजय की इच्छा से जल्प कथा का आरम्भ होता है।

वितण्डा--१२

जिस जल्प कथा में प्रतिपक्ष न हो उसे वितण्डावाद कहते हैं 'स्वपक्ष स्थापनहीना वितण्डा'। इन तीनों कथाओं का उपयोग तत्त्व निर्णयादि इच्छुक वादी प्रतिवादी विचारकों द्वारा होता है कथा का लक्षण इस प्रकार का नैय्यायिक करते हैं 'कथा नाम नाना वक्तृकः पूर्वोत्तर पक्ष प्रतिपादक वाक्य सन्दर्भः' वादी प्रतिवादी द्वारा पूर्वोत्तर पक्ष प्रतिपादक वाक्यों का प्रयोग ही कथा है।

हेत्वाभास--१३

'सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसमातीत कला हेत्वाभासाः' न्या० १-२-४ अर्थात् हेतु के सदृश प्रतीत हो पर वास्तव में सद् हेतु न हो उसे हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभास पांच हैं। सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत कहते हैं। (१) सव्यभिचार अव्यवस्था को व्यभिचार कहते हैं। अनैकान्तिक (एक पक्ष प्रतिपादकत्व रहित) को सव्यभिचार कहते हैं। जैसे वादी ने कहा शब्द अनित्य है स्पर्श वाला होने से, क्योंकि स्पर्श वाला घट अनित्य है; वैसा शब्द नहीं अतः शब्द नित्य है। यहां दृष्टान्त में स्पर्शत्व और अनित्यत्व धर्म साध्य साधन भाव रहित है क्योंकि परमाणु में स्पर्श है परन्तु परमाणु अनित्य नहीं और ऐसा ही कहें कि जो स्पर्श वाला नहीं वह नित्य है जैसे आत्मा यह भी ठीक नहीं क्योंकि बुद्धि स्पर्श रहित है परन्तु अनित्य है। इस प्रकार दोनों हेतु दोषयुक्त होने से हेत्वाभास दोष दुष्ट है इसे सव्यभिचार कहते हैं। (२) जिस सिद्धान्त को मान कर प्रवृत्त

हो उस सिद्धान्त के विरोधी हेतु को विरुद्ध कहते हैं जैसे घट व्यक्ति अनित्य है द्रव्य होने से यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है या जैसे घट व्यक्ति विकार रहित है नित्यत्व के निषेध होने से (३) प्रकरणसम:—विचार के आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रकरण कहते हैं, उसकी चिन्ता सन्देह से लेकर निर्णय तक जिस कारण की गई हो और वही निर्णय के लिये भी काम में लाया जाय तो पक्ष आगे नहीं चलता इसे प्रकरणसम हेत्वाभास कहते हैं न्या० १-२-७ जैसे शब्दोऽनित्य: नित्य धर्म ज्ञान रहितत्वात् यह हेतु प्रकरणसम है क्योंकि इससे दो पक्षों में एक किसी का निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि यदि शब्द में नित्यत्त्व धर्म का ग्रहण होता तो पक्ष ही नहीं बनता और अनित्यत्त्व धर्म का ज्ञान होता तब भी पक्ष नहीं होता अर्थात् नित्यत्त्व और अनित्यत्त्व इन दोनों में से किसी एक के ज्ञान होने पर प्रकरण की सृष्टि ही नहीं होती (४) साध्यसम:—'साध्याविशिष्ट: साध्यत्वात् साध्यसम:' न्या० १-२-८ हेतु स्वयं साध्य होने से अर्थात् साध्य के समान होने से साध्यसम हेत्वाभास कहाता है जैसे छाया, द्रव्य है, गति वाली होने से यह हेतु साध्यसम है जैसे छाया का द्रव्यत्त्व साध्य है वैसे ही गति भी है। (५) कालातीत: 'कालात्ययापदिष्ट: कालातीत:' न्या० १-२-९ अर्थात् जिस अर्थ का वर्णन समय चूकने पर हो उसे कालातीत कहते हैं यही पांच हेत्वाभास कहे जाते हैं।

छल-१४

'बचन विघातोऽर्थ विकल्पोपपत्याच्छलम्' न्या० १-२-१० अर्थात्

अर्थ बदल कर वचन विघात को छल कहते हैं। वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल के भेद से छल तीन प्रकार का है।

(१) वक्ता के कहे हुये शब्दों से उसके अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना को वाक् छल कहते हैं जैसे किसी ने कहा कि देवदत्त नव कम्बल वाला है, यहां वक्ता का अभिप्राय देवदत्त नवीन कम्बल वाला है ऐसा है परन्तु वाक्छली नवीन अर्थ न करके नव का अर्थ नौ संख्या वाला करता है। समस्त पदों में ऐसा छल प्रायः हुआ करता है, वाणी का छल होने से इसे वाक् छल कहते हैं (२) सामान्य छल—सम्भव अर्थ के अति सामान्य योग से असम्भव अर्थ की कल्पना करना सामान्य छल कहाता है। जैसे किसी ने कहा कि यह ब्रह्मचारी विद्या विनय सम्पन्न है। इसका खण्डन सामान्य छली ऐसा करता है कि यदि विद्या विनय सम्पन्न ब्रात्य (संस्कारहीन) हो तो क्या ब्रह्मचारी हो सकता है? वक्ता के इस अर्थ के उल्लघन को अति सामान्य कहते हैं, ब्रह्मचारित्व विद्या विनय सम्पन्न एवं असम्पन्न दोनों में हो सकता है। परन्तु वक्ता का तात्पर्य इस अर्थ में नहीं है; केवल विद्या विनय का अर्थ प्रशंसार्थ है सम्पत्ति का हेतु नहीं अतः वक्ता का तात्पर्य ब्रात्य के लिए नहीं हो सकता क्योंकि यह अर्थ असम्भव है (३) उपचार छलः—यथार्थ में शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ का द्योतक है उसका अन्यार्थ कथन विकल्प से होता है उसके उच्चारण से अर्थ की विद्यमानता का निषेध उपचार छल कहाता है। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' मचान बोलते हैं, सड़क पर मकान है इत्यादि इसके उदाहरण हैं। मचान बोलते हैं इसका

अभिप्राय मचान पर बैठे पुरुष बोलते हैं सड़क पर मकान है इसका अर्थ सड़क के किनारे मकान है इत्यादि।

जाति--१५

'साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः' न्या० द० १-२-१८ अर्थात् साधर्म्य वैधर्म्य से खंडन को जाति कहते हैं। इसका सविस्तार वर्णन न्याय दर्शन के पाँचवें अध्याय में किया गया है इसके चौबीस भेद हैं (१) साधर्म्यसम (२) वैधर्म्यसम (३) उत्कर्षसम (४) अपकर्षसम (५) वर्ण्यसम (६) अवर्ण्यसम, (७) विकल्पसम (८) साध्यसम (९) प्राप्तिसम (१०) अप्राप्तिसम (११) प्रसंगसम (१२) प्रतिदृष्टान्तसम (१३) अनुत्पत्तिसम (१४) संशयसम (१५) प्रकरणसम (१६) हेतुसम (१७) अर्थापत्तिसम (१८) अविशेषसम (१९) उपपत्तिसम (२०) उपलब्धिसम (२१) अनुपलब्धिसम (२२) नित्यसम (२३) अनित्यसम (२४) कार्यसम साधर्म्यसमः—समान धर्म से उपसंहार होने पर साध्य धर्म से विपर्यय की उत्पत्ति द्वारा समान धर्म से समान रूप खण्डन हेतु से साधर्म्यसम प्रतिषेध होता है। जैसे आत्मा से युक्त शरीर क्रिया वाला है; ऐसे ही आत्मा है अतएव आत्मा क्रिया वाला है ऐसा उपसंहार होने पर प्रतिवादी साध्यधर्म से ही खण्डन करता है कि आत्मा अक्रिय है विभुपरिमाण (व्यापक) होने से जैसे आकाश इसी प्रकार का आत्मा है इसलिये क्रियारहित है (२) वैधर्म्य सम-वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान को वैधर्म्यसम कहते हैं। जैसे किसी ने

उपसंहार किया कि आत्मा क्रिया शून्य है, विभु होने से, क्योंकि क्रियावान द्रव्य अव्यापक होता है जैसे मृतपिण्ड ऐसा आत्मा नहीं हैं इसलिये क्रिया रहित है। इस पर वैधर्म्य रूप से प्रत्यवस्थान [एतराज] किया जाता है कि क्रिया रहित द्रव्य आकाश क्रिया हेतु गुण रहित देखा गया है ऐसा आत्मा नहीं है इसलिये क्रिया वाला है। क्रियाशून्य के वैधर्म्य से क्रियावान होना विशेष कारण के न होने से वैधर्म्यसम प्रतिषेध है (३) उत्कर्षसम—दृष्टान्त धर्म को साध्य के साथ मिलाने वाले को उत्कर्षसम कहते हैं जैसे हेतु गुण क्रिया के योग से आत्मा क्रिया वाला है जैसे मिट्टी का ढेला, तो ढेले के समान उसे स्पर्श वाला भी होना चाहिये। यदि यह कहें कि स्पर्श रहित है तो क्रिया गुण वाला भी नहीं हो सकता (४) अपकर्षसम—साध्य में दृष्टान्त के धर्म भाव प्रसंग को अपकर्षसम कहते हैं। जैसे मिट्टी का ढेला क्रिया वाला एवं अव्यापक है इसलिये आत्मा भी क्रिया वाला और अव्यापक होना चाहिये, यदि ऐसा नहीं है तो इसमें विशेष बताना चाहिये (५) वर्ण्यसम—प्रसिद्धि के योग को वर्ण्य और विपरीत को (६) अवर्ण्यसम कहते हैं ये दोनों साध्य दृष्टान्त के धर्म हैं (७) विकल्पसम—साधन धर्म से युक्त दृष्टान्त में अन्य धर्म के विकल्प से साध्य धर्म का विकल्प कराने वाला विकल्पसम होता है (८) साध्यसम—हेतु आदि अवयव सामर्थ्य योगी धर्म साध्य होता है उसको दृष्टान्त से प्रसंग कराने वाले को साध्यसम कहते हैं जैसे पाषाण का टुकड़ा है वैसाही आत्मा है.इससे प्राप्त हुआ कि जैसे पत्थर है वैसे ही आत्मा

हुआ। यह आत्मा क्रिया वाला साध्य है तो निःसंदेह पत्थर का टुकड़ा भी साध्य है। यदि ऐसा नहीं तो पाषाणखंड के तुल्य आत्मा नहीं हो सकता (९) **प्राप्तिसम**–हेतुसाध्य को **प्राप्त** कर साध्य को सिद्ध करे या न प्राप्त होकर हेतु साध्य को प्राप्त करके ही साधक होता है; यह नहीं कह सकते क्योंकि प्राप्ति में विशेष न होने पर असाधक हुआ; जब दोनों विद्यमान हैं तो कौन किसका साधक और साध्य है अप्राप्य साधक नहीं होता जैसे दीप प्राप्त न होकर प्रकाश नहीं कर सकता प्राप्ति के खण्डन को प्राप्तिसम और अप्राप्ति के खण्डन को अप्राप्तिसम (१०) कहते हैं। (११) **प्रसंगसम**—साधन का भी साधन कहना चाहिये इस रीति के खण्डन को प्रसंगसम कहते हैं (१२) प्रतिदृष्टान्तसम—प्रतिदृष्टान्त करके जो खण्डन है उसे प्रतिदृष्टान्तसम कहते हैं। जैसे क्रिया वाला आत्मा क्रिया हेतु गुण लोष्ट (ढेला) के समान है। ऐसा कहने पर प्रतिदृष्टान्त दिया जाता है कि क्रिया युक्त गुण हेतु आकाश निष्क्रिय है इस पर प्रश्न होता है कि आकाश में कौन सा हेतु गुण है ? तो संस्कार की अपेक्षा रखने वाला वायु के साथ संयोग रूप गुण है; वायु और वनस्पति के संयोग की तरह से प्रतिदृष्टान्तसम कहते हैं। (१३) अनुत्पत्तिसम—उत्पत्ति के पहले कारण के न रहने से अनुत्पत्तिसम होता है जैसे शब्द अनित्य है, प्रयत्न की आवश्यकता होने से घट की तरह, ऐसा कहने पर दूसरा कहता है कि उत्पत्ति के पहले अनुत्पन्न शब्द में प्रयत्न की आवश्यकता जो अनित्यत्वका हेतु है वह नहीं है। अनुत्पत्ति के प्रत्यवस्थान से अनुत्पत्तिसम होगा।

(१४) संशयसमः–प्रयत्न रूप कारण से उत्पन्न होने पर घट की तरह शब्द अनित्य है ऐसा कहने पर हेतु में सन्देह होता है, प्रयत्न की समानता रहने पर भी इसका नित्य सामान्य के साथ अनिन्द्रिय-कत्त्व रूप साधर्म्य है और अनित्य घट के साथ भी समान धर्मत्त्व है, इसलिये नित्यानित्य के साधर्म्य से संशयसम हुआ। (१५) प्रकरणसम अन्य विरुद्ध के साधर्म्य से दोष देने को जिसमें से दो में से एक की सिद्धि और एक की निवृत्ति न हो उसे प्रकरणसम कहते हैं। (१६) हेतुसम–हेतुनाम साधन का है उसे साध्य से पहले, पीछे या साथ होना चाहिये : यदि कहें कि पहले होगा तो साध्य के न होने से किसका साधन होगा। यदि यह कहें कि पीछे तो साधन के न होने से साध्य किसका होगा और यदि यह कहें कि साध्य साधन दोनों साथ में रहते हैं तो यह निर्णय नहीं हो सकता कि कौन साध्य और कौन साधन है। इसलिए यह हेतु अहेतुसम है। हेतु से साध्य की सिद्धि होती है पहले, पीछे अथवा एक साथ प्रतिषेध नहीं होता। प्रतिषेध की अनुपपत्ति स्थापना हेतु से हुई यही हेतुसम है। (१७) अर्थापत्तिसम–शब्द अनित्य है प्रयत्नजन्य होने से जैसे घट। इस पक्ष के स्थापन होने पर अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष के साधन करने वाले को अर्थापत्ति सम कहते हैं जो प्रयत्नजन्य हेतु से शब्द को अनित्यत्त्व सिद्ध किया तो नित्य के साध-र्म्य से नित्य भी हो सकता है। अस्पर्शत्त्व रूप साधर्म्य से सिद्ध होता है। (१८) अविशेषसम–जैसे प्रयत्नजन्य घट और शब्द होने से दोनों में अनित्यता एक सी प्राप्त हुई। सद्भाव की उपपत्ति

से दोनों का अविशेष प्राप्त हुआ क्योंकि सद्भाव रूप धर्म सबका एकसा है ऐसे प्रत्यवस्थान को अविशेषसम कहते हैं। (१९) उपपत्तिसम–यदि शब्द के अनित्यत्त्व का कारण प्राप्त हो तो शब्द अनित्य होता है और नित्यत्त्व का कारण 'स्पर्श का नहीं होता' उपलब्ध होता है तो नित्यत्त्व भी सिद्ध होता है। नित्यत्त्व और अनित्यत्त्व के प्रत्यवस्थान से उत्पत्तिसम दोष हुआ (२०) उपलब्धिसम–यदि कोई कहे कि प्रयत्न से जैसे घट उत्पन्न अनित्य है ऐसे ही शब्द है इस पर वादी का यह कहना कि बिना प्रयत्न से उत्पन्न होने में भी वायु की प्रेरणा से वृक्ष की शाखा के टूटने पर उत्पन्न शब्द का अनित्य होना प्रत्यक्ष होता है इसलिये यह कथन ठीक नहीं इस प्रकार निर्दिष्ट साधन के अभाव में भी साध्यधर्म की प्राप्ति से प्रत्यवस्थान उपलब्धिसम कहा जाता है। इसके विपरीत को अनुपलब्धिसम (२१) कहते हैं। (२२) अनित्य सम अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द अनित्य है ऐसे कहने वाले को अनित्य घट के साथ सब पदार्थों का साधर्म्य है। इसलिये सबका अनित्यत्त्व रूप अनिष्ट प्राप्त होता है, इसे अनित्यसम कहते हैं। (२३) नित्यसम-शब्द अनित्य है ऐसी प्रतिज्ञा करने पर यह प्रश्न होता है कि वह अनित्यत्त्व शब्द में नित्य है या अनित्य, यदि नित्य है तो शब्द में सदा रहने से शब्दधर्मी नित्य हुआ यदि सदा नहीं रहता ऐसा कहें तो अनित्यत्त्व का अभाव होने से भी शब्द नित्य हुआ, इसको नित्यसम कहते हैं। (२४) कार्यसम—प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला कार्य विशेष से प्रत्यवस्थान होने से कार्यसम कहलाता है।

निग्रहस्थान–१६

'प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध प्रतिज्ञा संन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणम ज्ञानमप्रतिभाविक्षेपोमतानुज्ञा पर्य्यनुयोज्योपेक्षण निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासश्च निग्रहस्थानानि'न्या. ५-२-१ प्रतिज्ञाहानिः (१) जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की कि इन्द्रिय विषय होने से घट की तरह शब्द अनित्य है इस पर आक्षेप करने वाला कहता है कि इन्द्रिय विषयता होने से जाति नित्य है तो घट भी नित्य होना चाहिये ऐसा ही शब्द भी क्यों न हो। ऐसा स्वीकार करने से वक्ता अपने पक्ष का त्याग करने वाला सिद्ध होता है पक्ष को छोड़ना ही प्रतिज्ञाहानि है। (२) प्रतिज्ञान्तर-प्रतिज्ञात अर्थ के प्रतिषेध होने पर धर्म के विकल्प से उसके अर्थ के निर्देश को प्रतिज्ञान्तर कहते हैं। प्रतिज्ञात अर्थ है जैसे:—शब्द अनित्य है इन्द्रिय विषय घट की तरह, ऐसा कहने पर प्रतिदृष्टान्त हेतु का व्यभिचार दिया जाता है कि इन्द्रिय विषय जाति नित्य है। प्रतिज्ञात अर्थ के प्रतिषेध होने पर धर्म विकल्प से दृष्टान्त के समान तथा प्रति दृष्टान्त के भी तुल्य धर्मत्व होने से इन्द्रिय विषय जाति सर्वगत है और इन्द्रिय विषय घट सर्वगत नहीं। इस प्रकार धर्म-भेद से साध्यकी सिद्धि के लिये जैसे घट सर्वगत नहीं ऐसे ही सर्वगत न होने से घट की तरह अनित्य है; अब यहां घट की तरह शब्द अनित्य है यह पहिली प्रतिज्ञा शब्द सर्वगत नहीं

यह दूसरी प्रतिज्ञा, अतः यह प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान हुआ। (३) प्रतिज्ञाविरोध–प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध को प्रतिज्ञाविरोध कहते हैं ! 'द्रव्य गुण से भिन्न है' यह प्रतिज्ञा है। 'रूपादिकों से अर्थान्तर की अनुपलब्धि होने से' यह हेतु है। यह परस्पर विरोधी है क्योंकि यदि द्रव्य गुण से भिन्न है तो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि कहना ठीक नहीं जो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि हो तो गुण से भिन्न द्रव्य ऐसा नहीं बनता इसीलिये इसे प्रतिज्ञाविरोध कहते हैं। (४) प्रतिज्ञा संन्यास–पक्ष के निषेध होने पर माने हुये अर्थ को छोड़ देना प्रतिज्ञासंन्यास कहाता है जैसे इन्द्रिय का विषय होने से शब्द अनित्य है इस प्रकार कहने पर कोई कहे कि जाति इन्द्रिय विषय है पर अनित्य नहीं; इसी प्रकार शब्द भी है। इस कथन को स्वीकार करने से अर्थात् शब्द की नित्यता मानने से प्रतिज्ञा संन्यास हुआ। (५) हेत्वन्तर–सामान्य रूप से कहे हुये हेतु के निषेध होने पर विशेष की रक्षा करने वाले को हेत्वंतर नामक निग्रह स्थान प्राप्त होता है। जैसे यह सारा व्यक्त जगत् एक प्राकृतिक है, यह प्रतिज्ञा है एक प्रकृति वाले विकारों के परिणाम से यह हेतु है जैसे मिट्टी के घट आदि परिणाम प्रत्यक्ष हैं। शरीर व्यक्ति सुख दुःख मोहादि अनेक प्राकृतिक होते भी व्यक्त है। इस-प्रकार प्रथम हेतु में दोष आने से दूसरे का स्वीकार हेत्वन्तर कहाता है। (६) अर्थान्तर—मुख्यार्थ से सम्बंध न रखने वाले को अर्थान्तर कहते हैं जैसे किसी ने कहा शब्द नित्य है स्पर्शत्व से। हेतु किसे कहते हैं। 'हि' धातु से 'तुनि' प्रत्यय होने पर हेतु शब्द सिद्ध

होता है। नाम आख्यात उपसर्ग और निपात ये पद हैं। प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध न होने से ये सब अर्थान्तर हैं। (७) निरर्थक— वर्ण क्रम निर्देश वाला निरर्थक कहाता है जैसे कचटतप नित्य हैं जबगडदशत्व वाले होने से झभञ् घढधष्की तरह इस प्रकार इससे कोई अर्थबोध न होने से निरर्थक हैं। (८) अविज्ञातार्थ—जिस अर्थ को वादी ऐसे शब्दों में कहे जो प्रसिद्ध न हो उनके प्रसिद्ध न होने से अति शीघ्र उच्चारण या उच्चरित शब्दों के अनेकार्थ प्रतीत होने से तीन बार कहने पर वादी सभासद् विद्वान प्रतिवादी न समझ पावें ऐसा अर्थ कहने से बादी अविज्ञातार्थ निग्रह स्थान में आकर हार जाता है। धूर्त लोग अनेक लोगों की बुद्धि में चक्कर डालने के लिए ऐसा किया करते हैं परन्तु इससे उन का ही पराजय होता है।

(९) अपार्थकः—जहाँ अनेक पद या वाक्यों का पूर्वापर क्रम से अन्वय न हो वह शब्द समुदाय अर्थ रहित होने से अपार्थक नामक निग्रह स्थान में आ जाता है। जैसे दस अनार, छः पूये, कुश, चर्म, बकरी आदि कहना ये सब अपार्थक हैं। (१०) अप्राप्तकाल— प्रतिज्ञा आदि अबयवों का क्रम से न कहना 'अप्राप्तकाल' कहा जाता है। (११) न्यून—प्रतिज्ञा आदि पंचावयवों में से किसी एक अवयव से हीन वाक्य कहना न्यून नामक निग्रह स्थान है। (१२) अधिक— हेतु और दृष्टान्त के अधिक होने से अधिक निग्रह स्थान होता है। जब एक से कार्य हो गया तो दूसरे का उपयोग व्यर्थ होगा परन्तु यह बात नियम के मान लेने पर है नहीं तो नहीं। (१३) पुनरुक्त—'शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्' न्या०

५–२–१४ किसी प्रयोजन से पुनः कथन को अनुवाद कहते हैं और व्यर्थ ही जो पुनः कथन है उसे पुनरुक्त कहते हैं इसलिए यह पुनरुक्त नामक निग्रह स्थान है। पुनरुक्त दो प्रका के हैं अर्थ पुनरुक्त और शब्द पुनरुक्त। (१४) अननुभाषण- सभा और सभासद ने जिस अर्थ को जान लिया और वादी ने जिस तीन बार कह दिया ऐसा न होने पर भी प्रतिवादी जिसका उत्त न दे उसको अननुभाषण नामक निग्रह स्थान कहते हैं। (१५ अज्ञान 'अविज्ञातंवाज्ञानम्' सभासद और प्रतिवादी के तीन बा कह देने पर जो अर्थ को न समझे उसे अज्ञान नामक निग्रह स्था कहते हैं। (१६) अप्रतिभा—परपक्ष का खण्डन करना उत्तर सो किसी कारण यदि समय पर न किया तो वह अप्रतिभा नाम निग्रह स्थान है। (१७) विक्षेपः—'कार्य व्यासङ्गात कथा विच्छे विक्षेपः' न्या० ५–२–१९ जहां प्रतिवादी यों कहकर समाधान समय को टाल दे कि मुझे इस समय कुछ आवश्यक काम है उ करके पीछे शास्त्रार्थ करूँगा तो इसे कथा विच्छेद या विक्षेप निग्र स्थान कहते हैं। (१८) मतानुज्ञा—जो प्रतिवादी ने दोष दि उसको अपने पक्ष में अङ्गीकार करके उनके निवारण किये बिन यह कहना कि यह दोष तुम्हारे पक्ष में भी है यह मतानुज्ञा निग्र स्थान है (१९) पर्य्यनुयोज्योपेक्षण—निग्रह स्थान में प्राप्त हु को निग्रह करना पर्य्यनुयोज्योपेक्षण निग्रह स्थान है। यह किसक पराजय है यह सभा को कहना चाहिये क्योंकि जो निग्रह स्था में आया हैं वह निश्चय अपना पराजय नहीं मानता

(२०) निरनुयोज्यानुयोग—भ्रम से निग्रह स्थान होने की बुद्धि से यह कहना कि तू निग्रह स्थान को प्राप्त है। इसको निरनुयोज्यानुयोग निग्रह स्थान कहते हैं (२१) अपसिद्धान्त—किसी अर्थ के सिद्धान्त को मानकर नियम विरुद्ध कथा प्रसंग करना अपसिद्धान्त नामक निग्रह स्थान है। (२२) हेत्वाभास भी निग्रह स्थान है इसका कथन पहले हो चुका है।

यह निरूपण आचार्य गौतम ने प्रथम अध्याय तथा पाँचवे अध्याय में किया है। दूसरे अध्याय में संशय की परीक्षा और चारों प्रमाणों की अप्रमाणता का खण्डन करके अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का इन्हीं चारों में अन्तर्भाव किया गया है। तीसरे अध्याय में प्रमेय की परीक्षा और चतुर्थ में प्रवृत्ति से लेकर अपवर्ग तक प्रमेय और दोष के निमित्त अवयवी आदि का निरूपण किया गया है। पाँचवें में जाति भेद और निग्रह स्थान का निरूपण किया गया है। यह संक्षिप्त सार गौतमीय न्याय दर्शन का माना जाता है।

ईश्वरवाद

वैशेषिक दर्शन में जगत का निमित्त कारण ईश्वर तत्त्व माना जाता है। सिद्धान्त मुक्तावली में 'तस्मैकृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय' इस पद की टीका करते हुये श्री विश्वनाथ पञ्चानन ने यह अनुमान प्रदर्शित किया है 'क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटादिवत्, अर्थात् जैसे घटादि कर्त्ता से जन्य हैं इसी प्रकार पृथिवी

आदि पदार्थों की उत्पत्ति भी कर्ता से ही जन्य हैं क्योंकि ये कार्य
और वह कर्त्ता ईश्वर है जीव में यह कर्तृत्व किसी प्रकार सम्भ
नहीं हो सकता, ऐसा ही तर्क संग्रह दीपिका में भी अन्नंभट्ट ने कह
है। परन्तु वैशेषिक सूत्रों में तथा प्रशस्तपाद भाष्य में ईश्वर संबंध
कोई विचार नहीं मिलता। आत्मनिरूपण में प्रशस्तपाद ने केवल
"साधारण विग्रहवत्व प्रसंगादज्ञम्" वाक्य कहा है यह केवल जी
के विषय में ही चरितार्थ हो सकता है। 'व्यवस्था तो नाना
वै० ३-२-२० इस सूत्र से भी जीव का ही स्वरूप ज्ञात होता है
चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने तो अद्वैतवादियों की तरह इस सूत्र का अ
किया है। उन्होंने आत्मतत्त्व में कल्पित भेद स्वीकार किया
परन्तु यह व्याख्या नवीन है। वैशेषिक दर्शन में ईश्वरवाद क
व्याख्या न्याय दर्शन के अनुसार ही की जाती है क्योंकि ये दोन
दर्शन समानतन्त्र के नाम से एक दूसरे से आदान-प्रदान करके ह
चलते हैं। जैसे वैशेषिक दर्शन में हेत्वाभास तीन ही माने जाते
परन्तु न्याय में पांच हैं इसी के अनुसार वैशेषिक के नवीन ग्रन्थ
में पांच ही हेत्वाभास माने जाते हैं। ऐसा ही ईश्वर पदार्थ भ
गौतमीय न्याय का सिद्धान्त है। महर्षि गौतम ने कहा है ईश्वर
कारणं पुरुषकर्माफल्य दर्शनात्' न्या० ४-१-१९ अर्थात् जीवों की
कर्म फल की प्राप्ति ईश्वर से ही होती है। 'न पुरुषकर्माभावे
फलानिष्पत्तेः' इस सूत्र से जीव की फल प्राप्ति में स्वातन्त्र्य का
पूर्व पक्ष करके 'तत्कारित्वा दहेतुः' न्या० ४-१-२१ इस सूत्र से
जीवों के फल प्राप्ति में ईश्वर ही कारण है यह निश्चित किया
गया है। ईश्वरवाद के सिद्ध्यर्थ श्री उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमांजलि

में अनेक प्रकार दिखाये हैं। यहाँ उनकी एक कारिका लिखते हैं जो ईश्वर कारणवाद में न्याय सिद्धान्त में प्रधानता से ईश्वरवाद को बताती है। कार्या योजन धृत्यादेः पदात्प्रत्ययतःश्रुतेः। वाक्यात् संख्या विशेषाश्च साध्यो विश्वविदव्ययः (न्या० कु० ५–१) अर्थात् जगतरूप कार्य की योजना, अनेक ब्रह्माण्डों का धारण, वेद के पदों से सार्थक अर्थ की प्रतीति, बाक्यार्थ बोधक शब्दों से, परमाणु परिमाण से द्वणुक आदि में परिमाणधिक्य से ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि का हेतुत्त्व होने से ईश्वर कारणवाद सिद्ध होता है क्योंकि ये बातें जीव या प्रधान में नहीं हो सकतीं। यह ईश्वरवाद का संक्षेप है।

सांख्य दर्शन–६

सांख्यशास्त्र के प्रणेता महर्षि कपिलमुनि के मत में तत्त्व ज्ञान का प्रतिपादन चार प्रकार से होता है। इस मत में प्रकृति से पुरुष का पृथक्त्व ज्ञान प्राप्त करने पर ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, उसे सत्त्यपुरुषान्यताख्याति कहते हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है। 'त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः' न्या० १। इस सूत्र से ऐसा ही कहा गया है। पदार्थ विभाग में पहला विभाग प्रकृति तत्व का है। दूसरा प्रकृति और विकृति है तीसरा केवल विकृति है चौथा न प्रकृति न विकृति अर्थात् दोनों से विलक्षण। (१) प्रकृति–किसी तत्त्व का विकार या कार्य न होने से केवल प्रकृति, मूल प्रकृति या प्रधान नाम

से कही जाती है। (२) महत्तत्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रायें प्रकृति एवं विकृति दोनों हैं क्योंकि मूल प्रकृति के कार्य होने से विकृति तथा स्थूल पञ्च भूतों का कारण होने से प्रकृति है। (३) पंचमहाभूत और एकादश इन्द्रियाँ केवल विकृति ही हैं क्योंकि ये किसी तत्त्वान्तर के कारण नहीं हैं (४) पुरुष या आत्मा न किसी तत्त्व का कारण न कार्य ही है इसलिये इसे दोनों से विलक्षण कहते हैं। संक्षेप में यही चार क्रम माना जाता है; ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में कहा है 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः' सां० का० ३ श्लोक का अर्थ उक्त प्रकार का ही है।

प्रधानवाद

प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्चषोड़शकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पंचभूतानि' सां.का. ॥२२॥

सम्पूर्ण विकारों का एक मात्र कारण प्रकृति तत्त्व से पहले पहल महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ उसे बुद्धि भी कहते हैं। महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रियां और तन्मात्रायें उत्पन्न हुईं पंच तन्मात्राओं से स्थूल पंच महाभूत हुये। अहंकार के दो विभाग हैं। सात्त्विक तथा तामस। सात्त्विक अंश से एकादश इन्द्रियां और तामस अंश से पंच तन्मात्रायें उत्पन्न हुईं। शब्द तन्मात्रा स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा ये पाँचों तन्मात्रायें पञ्च स्थूल भूतों की सूक्ष्मावस्थायें हैं। श्रोत्र,

त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा, वाक्, हस्त, पाद, गुदा और उपस्थ ये कर्मेन्द्रिय पद से कही जाती हैं। ग्यारहवां मन कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय दोनों में माना जाता है 'उभयात्मक-मेवमनः संकल्पमिन्द्रियं च साधर्म्याद्' इस कारिका से कहा गया है। अहंकार और बुद्धि केवल अन्तःकरण हैं शब्द तन्मात्रा से स्थूल आकाश, शब्दतन्मात्रायुक्त स्पर्शतन्मात्रा से वायु, शब्दतन्मात्रा, वायु तन्मात्रा, युक्त रूप तन्मात्रा से तेज, शब्दतन्मात्रा,स्पर्शतन्मात्रा रूप तन्मात्रायुक्त रस तन्मात्रा से जल, शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा रूप तन्मात्रा। रस तन्मात्रा युक्त गन्ध तन्मात्रा से पृथिवी, इस क्रम से पञ्च महा भूतों की उत्पत्ति बतलाई गई है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम प्रकृति या प्रधान है, इसका अन्य कोई कारण न होने से इसे मूल कारण भी कहते हैं 'श्री वाचस्पति मिश्र ने' 'प्रकरोतीति प्रकृतिः उपादान कारणम्' ऐसा प्रकृति का लक्षण किया है। सत्त्वगुण लघु प्रकाशक धर्म वाला है, रजोगुण प्रवृत्ति कराने वाला तथा तमोगुण नियामक है। ये परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले होते हुये भी मिल कर दीप की तरह जगद्रूप कार्य करते हैं, जैसे तैल, बत्ती और तेज परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले होते हुये भी मिल कर प्रकाश रूप कार्य करते हैं। यह समस्त संघात जो दृश्य शब्द से कहा जाता है इन्हीं तीनों गुणों से उत्पन्न हुआ है। कारिका में कहा गया है 'सत्त्वं लघु प्रकाशक मिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरुवरणकमेवतमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः सा० १३ तथा 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'

कही जाती है। प्रकृति ही जगत् को बनाती है। पुरुष को भोग तथा कैवल्य प्रदान करने के लिए जगद् रचना होती है। 'संघात परार्थत्वात्' इस न्याय से भोग्य से भिन्न भोक्ता की सिद्धि होती है। जन्म, मरण बुद्धयादि त्रयोदश करणों की व्यवस्था होने से पुरुष या आत्मा अनेक सिद्ध होते हैं। पुरुष शुद्ध, कुटस्थ, चेतन, विभु, अपरिणामी उदासीन आदि लक्षणों से कहा जाता है प्रकृति के साथ से सुखी दुःखी सा प्रतीत हो रहा है। प्रकृति पुरुष के संयोग का निमित्त सांख्यचार्यों ने इस प्रकार बताया है 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं प्रधानस्य । पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः, सां० का० अर्थात् पुरुष प्रधान के स्वरूप का साक्षात करे यह अपेक्षा पुरुष को है क्योंकि भोग के बिना भोक्तृत्व असिद्ध है एवं प्रधान या प्रकृति को भोक्ता की अपेक्षा है क्योंकि भोक्ता के बिना भोग्य अनुपयुक्त है इन्हीं दोनों कारणों से अन्ध पंगु न्याय से सृष्टि होती है जैसे अन्धे को दृष्टि की अपेक्षा और पंगु को क्रिया की जरूरत है दोनों मिलने पर उक्त व्यवहार कर सकते हैं। वैसे ही पंगु स्थानीय आत्मा अन्ध स्थानीय प्रकृति है इनके मिलने पर ही जगद्रूप कार्य होता है। पुरुष स्वभावतः मुक्त है बन्ध और मोक्ष वास्तव में प्रकृति में ही है तो भी गौणता से इनका व्यवहार पुरुष में होता है जैसे रक्त पुष्प के साहचर्य से स्फटिक में लालिमा प्रतीत होती है। वैसे ही उपचारजन्य व्यवहार पुरुष में होता है। प्रकृति जड़ होने पर भी इस जगत का कर्त्ता है इस विषय को इस प्रकार कहा गया है 'वत्स विवृद्धि निमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्ति

रज्ञस्य। पुरुष विमोक्ष निमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य' जैसे बछड़े के स्नेह से गौके स्तन से जड़ दूध का स्राव होता है ऐसे ही प्रकृति सृष्टि रचना पुरुष को भोग सम्पादन करने के लिये करती है। कैवल्य सम्पादन में इस प्रकार कहा गया है जैसे नर्तकी सभासदों को नृत्य गान आदि से तृप्त करके नृत्य से उपरत हो जाती है इसी प्रकार प्रकृति अपना स्वरूप पुरुष को दिखाकर सदैव के लिये उपरत हो जाती है इस प्रकार को कारिका में एक विलक्षण प्रकार से कहा गया है "प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्ति इतिमे मतिर्भवति। या द्रष्टास्मि इति पुनर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य" जैसे पर्दे में रहने वाली स्त्री किसी परपुरुष के देखने पर अपने अंगों को इस प्रकार छिपाती है कि उसे फिर कभी कोई न देख सके। इसी प्रकार पुरुष के देख लेने पर प्रकृति पुरुष को सदैव के लिए छोड़ देती है; यही पुरुष का कैवल्य है।

ईश्वर कारणवाद

सांख्य दर्शन निरीश्वर कारणवाद को मानता है परन्तु ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं से भिन्न सांख्य सूत्र के नाम से भी सांख्य शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। बहुत से विद्वान् इसे नवीन बताते हैं और कहते हैं कि निरीश्वरवाद के दोष को हटाने के लिये इसे पीछे से किसी ने बना दिया है इसीलिये इसमें ईश्वर तत्त्व को स्वीकार किया गया है जैसे–सहि सर्ववित् सर्व कर्त्ता" सां० द० ३-५६ ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा सा० ३-५७ आदि भागवत

महाभारत में भी सांख्य निरूपण सेश्वरवादानुकूल ही मिलता है अतः इसे नवीन भी नहीं कहा जा सकता, श्री शंकराचार्य, श्री गौड़पाद, श्री रामानुजाचार्य आदि आचार्यों ने सूत्र का उल्लेख नहीं किया है सांख्य प्रमाण रूप में सर्वत्र कारिका का ही उल्लेख देखा जाता है। तथा 'त्रयी सांख्यं योगः' इस महिम्न की टीका में श्री मधुसूदन स्वामी ने सांख्य सूत्रों को ही प्रमाण माना है। सूत्रों की रचना अवश्य असम्बद्ध सी प्रतीत होती है पर उसका विशदार्थ श्री विज्ञान भिक्षु ने कर दिया है जिससे इसे भी प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखती। यहां पर निरीश्वर सांख्य वाद की भी चर्चा कर देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है इसलिये उसे भी बताते हैं। ईश्वर कारणवादी प्रकृति कारणवादी की असिद्धि बताते हुये कहते हैं कि प्रकृति जड़ है इसलिये जगद् रचना नहीं कर सकती परन्तु पूर्वोक्त प्रकार से प्रकृतिवाद सिद्ध होता है प्रत्युत जगद् रचना में ईश्वर कारणवाद भी असंगत है क्योंकि प्रवृत्ति स्वार्थ और करुणा से ही होती है ऐसा बुद्धिमानों का निश्चय है। जगद् रचना में स्वार्थ प्रयुक्त ईश्वर की प्रवृति नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर पूर्ण आप्त काम है, अनेक प्रकार के जीवों की स्थिति देखते हुये करुणा भी नहीं हो सकती यदि करुणा को हेतु माने तो सभी जीव सुखी होने चाहिये, ऐसा न देखते हुये करुणा प्रयुक्त रचना अयुक्त सिद्ध होती है क्योंकि दुःखी सुखी दोनों प्रकार के जीव संसार में देखे जाते हैं। यदि प्राणियों के धर्माधर्म को हेतु माने तो भी ईश्वर कारणवाद अयुक्त सिद्ध होता है। क्योंकि जगद्

वैचित्र्य में धर्माधर्म हेतु होने से ईश्वर का स्वातन्त्र्य नष्ट हो जायगा इसलिये पूर्वोक्त रीति से प्रकृति कारणवाद मानना संगत है। इस प्रकार आचार्य ईश्वर कृष्ण तथा उनके अनुयायियों ने निरीश्वरवाद सिद्ध किया है।

षष्ठितन्त्र ग्रन्थ

ईश्वर कृष्ण की कारिकाओं से पहले सांख्य शास्त्र के तत्त्वों को बताने वाला षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ था जिसके आधार पर ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाओं को बनाया है जिसे उन्होंने कहा है "सप्तत्यां किलयेऽर्थास्तेर्थाः कृत्स्नस्यषष्ठितन्त्रस्य। आख्यायिका-विरहिताः परवाद विर्वजिताश्चापि" कारिका की व्याख्या करने वाले श्री वाचस्पति मिश्र ने भी राज वार्तिक का उदाहरण देते हुये षष्ठितन्त्र के षष्टि (६०) पदार्थों का उल्लेख किया है एवं सांख्य कारिका के पदार्थों की उक्त ग्रन्थ से एकता की है जिसकी संगति इस प्रकार है:-'प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्वमथान्यता, परार्थक्यं तथानैक्यं वियोगोयोग एव च'। शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश। विपर्ययः पंचविधस्तथोक्तानवतुष्टयः। करणानाम सामर्थ्यमष्टाविशंनिधामतम्। इति षष्टिः पदार्थ नामष्टाभिः सह सिद्धिभिः। इति। अर्थात् (१) प्रधान की सत्ता २-एकता ३-पदात्व ४-पुरुष से प्रकृति का भेद ५-पुरुष के ही लिये प्रधान का कार्य कारण रूप से परिणाम ६-पुरुष की अनेकता ७-अन्त में प्रकृति से वियोग ८-सांसारिक दशा में दोनों का योग, शेष वृत्ति

(९) स्थूल सूक्ष्म सृष्टि का प्रधानाङ्गत्व १०–पुरुष का अकर्तापन ये सांख्य शास्त्र के प्रधान विषय हैं।

तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र इन्हें ही योगशास्त्र में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश कहते हैं ५–प्रकृति उपादान, काल, भाग, पार सुपार, पारापार, अनुत्तमाम्भ, उत्तमाम्भ ये नव तुष्टि कहलाती हैं तथा आठ सिद्धियां कहीं जाती हैं श्रवण, मनन, निदिध्यासन, रम्यक, सुमुदिन, प्रमोद, मुदित और मोहमाना ये सिद्धि और तुष्टि मिल कर सप्तदश हैं १७–अट्ठाइस प्रकार की अशक्ति मानी जाती है (एकादशेन्द्रिय-बंधा सहबुद्धि वधैशशक्ति रुद्दिष्टा। सप्तदशवधा बुद्धिर्विपर्यातुष्टि सिद्धीनाम्। एकादश इन्द्रियों में एकादश दोषों के सम्बन्ध से बुद्धि में ११ अशक्ति होती हैं। ९ तुष्टि ८ सिद्धि के प्रतिबन्ध से सत्रह प्रकार की अशक्ति बुद्धि में है। इस प्रकार कुल २८ अशक्तियाँ हैं। १०+५+१७+२८ इनको मिलाने से ६० होते हैं यही षष्टितन्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं। आख्यायिका तथा खण्डन मण्डन को छोड़-कर ७० आर्याछिन्दों में आचार्य ईश्वरकृष्ण ने षष्टितन्त्र का प्रतिपादन किया है। इसलिए कारिका भी शास्त्र स्थानीय है सांख्य सूत्रों का प्रवचन भाष्य भी कारका का ही अनुगामी है।

सत्कार्यवाद

बौद्ध, वेदान्त न्याय और सांख्य शास्त्रों में सृष्टि की प्रक्रिया भिन्न भिन्न रीति से मानी गयी है। बौद्ध कहते हैं कि यह सृष्टि

पहले अभाव रूप वाली थी बाद में भावात्मक रूप वाली हुई। वेदान्ती सत् से असत् की उत्पत्ति मानते हैं अर्थात् सत्रूप से अद्वैत ब्रह्म की अनैकाकार प्रतीति असत् या भ्रम है। इसे ही विवर्तवाद कहते हैं। नैयायिक सत् से असत् की उत्पत्ति मानते हैं अर्थात् परमाणुओं में द्व्यणुक, त्रसरेणु आदि क्रम से उत्पन्न होने वाला जगत् पहले नहीं था पश्चात् नूतन कार्य रूप से उसका आरंभ होता है। अतः सत् से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है इसे ही आरम्भवाद कहते हैं। सांख्य का सिद्धान्त हैं कि कार्य पहिले कारणावस्था में भी था अतः सत् से ही सत् पैदा होता है इस क्रम को परिणामवाद कहते हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति असम्भव है क्योंकि अभाव का स्वरूप ही जब तुच्छ है तो उससे भावात्मक सृष्टि कैसे हो सकती है। कारण के तुच्छ होने से कार्य का कारण से सम्बन्ध ही असिद्ध है। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाय तो सर्वत्र सबकी उत्पत्ति मानना चाहिये क्योंकि अभाव सबको सुलभ है। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता इसलिये असत् से सत् की उत्पत्ति असंगत है : सत् से असत् का भी संबंध न होने से तथा कार्य का शुक्ति रजत की तरह बाध न होने से भ्रम नहीं कहा जा सकता, इसलिये सत्कार्यवाद का सम्पादक वेदान्त सम्मत विवर्तवाद भी नहीं है। यही बात नैयायिकों के सत् से असदुत्पत्ति में भी लागू होती है इसलिये 'असद करणात् इत्यादि न्याय से सत् कार्यवाद ही संख्याचार्यों को सम्मत है। सूत में वर्तमान की ही उत्पत्ति, मृत्तिका से घट और सुवर्ण में आभूषण

आदि दृष्टान्तों से कार्यकारणभाव के सम्बन्ध की सिद्धि निराबाध रूप से होती है। यह सांख्य शास्त्र का संक्षेप से निष्कर्ष है। महर्षि कपिल ने यह ज्ञान पहले पहल आसुरी को दिया, आसुरी ने पंचशिख को और पंचशिख ने ईश्वरकृष्ण को और ईश्वर कृष्ण ने सारे संसार में इसे फैलाया इस प्रकार सांख्य शास्त्र की परम्परा है।

योग दर्शन

महर्षि पतञ्जलिका योग दर्शन सांख्य दर्शन के अनुसार ही तत्त्व ज्ञान में विचार रखता है तब भी कई बातों में भिन्न होने से इस शास्त्र की पृथक् गणना की जाती है। इसके प्रतिपादन का यह क्रम है; चित्त वृत्तियों का निरोध योग कहा जाता है जैसे 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः, चित्त की वृत्तियों के निरोध से होने वाला योग दो प्रकार का है जिसे सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात कहते हैं। सम्प्रज्ञात के चार भेद होते हैं जिन्हें वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत कहते हैं। ये चारों अवस्थायें रजोगुण एवं तमोगुण की सम्पूर्ण वृत्तियों के निरोध तथा सात्त्विक वृत्तियों के प्रवाहित होने पर क्रम से होती हैं। इन वृत्तियों से विक्षेपन होने से सम्प्रज्ञात भी योग होता है। सात्त्विक, राजस और तामस इन सभी वृत्तियों के निरोध को असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। चित्त वृत्ति क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट के भेद से पांच प्रकार की है, जिन्हें प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति कहते हैं जिनमें प्रत्यक्ष, अनुमान

और शब्द के भेद से तीन प्रकार की प्रमाणवृत्ति है जिसे प्रमाण निरूपण में कह आये हैं। मिथ्या ज्ञान को विषय करने वाली वृत्ति को विपर्यय कहते हैं। अर्थ की विद्यमानता न होने पर भी शब्द द्वारा व्यवहार जो हो उसे विकल्प कहते हैं जैसे पुरुष का चैतन्य। अभाव ज्ञान को विषय कराने वाली वृत्ति को निद्रा कहते हैं। अनुभूत विषय का न भूलना स्मृति है। इन्हीं के निरोध से योग होता है। कोई कोई जीवात्मा तथा परमात्मा के संयोग को योग कहते हैं परन्तु यह इस शास्त्र का विषय नहीं है 'योगः समाधिः सच सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः' (व्यासभाष्य) इसकी टीका करते हुये वाचस्पति मिश्र ने 'युजिर योगे' इसका खण्डन करके 'युजसमाधौ' इस धातु से योग शब्द की सिद्धि मानी है। दीर्घकाल तक निरन्तर आदर पूर्वक अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा रजोगुणीय तथा तामस वृत्तियों के निरोध होने पर सम्प्रज्ञात योग की योग्यता प्राप्त होती है। (१) प्रथमावस्था में स्थूल चतुर्भुजादि रूपों की धारणा वाले योग को वितर्कानुगत कहते हैं। २–सूक्ष्म वस्तुओं के विचार से कारण पर दृष्टि होने से स्थूल वृत्तियों को छोड़कर जो योग होता है उसे विचारानुगत कहते हैं। ३–सत्त्व गुण से ज्ञान इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। सत्त्वगुण आनन्दात्मक है। इसीलिए इन्द्रियों को अवलम्ब करने वाले योग को आनन्दानुगत कहते हैं। ४–बुद्धि और आत्मा की एकता का अबलम्ब करने वाले योग को अस्मितानुगत कहते हैं। ये चारों समाधि सम्प्रज्ञात नाम से कही जाती हैं तथा अपर वैराग्य से लभ्य हैं। समस्त वृत्तियों के निरोध एवं

पर वैराग्य द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि होती है और यह आलस्य रहित होने से अभाव सदृश है। उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अधिकारियों द्वारा क्रमशः इनका अनुष्ठान होता है जिनमें 'तीव्र संवेगानामासन्नः' तीव्र संवेग वालों को अति शीघ्र समाधि लाभ होता है। ईश्वर की भक्ति और प्रणव जप से भी समाधि लाभ होता है। ईश्वर तत्त्व का लक्षण इस प्रकार किया गया है 'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः' यो० स० २४ पंच क्लेश, त्रिविध कर्म और वासना रूप संस्कार से जो सर्वदा रहित है उसे पुरुष विशेष ईश्वर कहते हैं। 'तस्यवाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इन दो सूत्रों से योग विघ्नों को हटाने तथा ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिये ईश्वर की भावना तथा ॐकार का जप कहा गया है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चारों भावनाओं के अभ्यास से भी चित्त स्थिर होता है। हठयोग तन्त्रशास्त्र एवं उपासना मार्ग भी योगशास्त्र के अङ्ग होने से क्रिया एवं मन्त्र जप में गतार्थ हो जाते हैं क्योंकि मन्त्रों द्वारा ईश्वर की अभिव्यक्ति के ही उपाय तन्त्रों में मुख्यतः बताये गये हैं। हठयोग में अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा प्राण के संयत होने पर कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर योगसिद्धि के उपाय कहे गये हैं। जो पातञ्जल-दर्शन के साधन पादोक्त अष्टाङ्ग योग के अन्दर आ जाते हैं।

योग का तात्त्विक सिद्धान्त

महर्षि पतञ्जलि के मत में प्रकृति पुरुष और ईश्वर ये तीन

पदार्थ हैं जिसमें प्रकृति, इस जगत का उपादान कारण है। प्रकृति से सृष्टि क्रम जैसा सांख्य शास्त्र में माना जाता है वैसा ही योग शास्त्र में भी है। सांख्य में पुरुष को भोग और अपवर्ग सम्पादन के लिये ही प्रकृति सृष्टि बनाती है। योगशास्त्र में इतना अंश तुल्य है तथापि ईश्वर की भक्ति से अपवर्ग होता है। यह योग का मत विशेष प्रकार का है। ईश्वर कारुणिक दयालु आदि गुण विशिष्ट है उसकी उपासना से जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। प्रकृति एक पुरुष अनेक चेतन, असंग, व्यापक आदि स्वरूप वाला है 'कृतार्थं-प्रतिनष्टमनष्टं तदन्य साधारणत्वात्' इस सूत्र से प्रमाणित होता है। यद्यपि 'प्रकाश क्रिया स्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' इस सूत्र में भोग और अपवर्ग दोनों प्रकृति में ही माने गये हैं। यह सांख्य शास्त्र के मतानुसार है। इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यास देव ने लिखा है 'भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्गः' भोक्ता आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने पर ही अपवर्ग होता है। वह स्वरूप ज्ञान प्रकृति से न होकर योगाभ्यास से ही होता है। ईश्वर सृष्टि कार्य में उदासीन है परन्तु संज्ञा स्फूर्ति ईश्वर से प्राप्त कर प्रकृति जगद् रचना करती है क्योंकि जड़ में स्वयं कर्तृत्व नहीं है। पुरुष स्वभाव से ही शुद्ध है परन्तु दृश्य के सम्बन्ध से अनादि काल से ही बन्ध में पड़ा है। दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' दृष्टा का दृश्य के साथ क्लेशमूलक सम्बन्ध हटाने के लिये क्रिया योग का उपदेश किया गया है।

क्रियायोग

'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः; यो० सा० १ सुख दुःख आदि द्वन्द्वों का सहन तप, मोक्ष शास्त्र का अध्ययन तथा प्रणव आदि का जप स्वाध्याय कहलाता है। समस्त कर्मों को ईश्वरार्पण करना ईश्वरप्रणिधान कहाता है। इन तीनों को क्रिया योग कहते हैं। इनके उपयोग से पंच क्लेशों की निवृत्ति होकर समाधि की सिद्धि होती है। अविद्या अस्मिता, राग द्वेष अभिनिवेश यही पाँच क्लेश कहे जाते हैं। नित्य में अनित्य सुख में दुःख शुचि में अशुचि आत्मा में अनात्म बुद्धि जिससे होती है उसे अविद्या कहते है। अनुकूल विषय में प्रीति राग और प्रतिकूल में घृणा द्वेष कहलाता है। अहंकार जन्य क्लेश अस्मिता कहाता है। सब प्राणियों की ऐसी धारणा होती है कि मेरा अभाव कभी न हो मैं तीनों काल में रहूं यह दुःख मरण भय प्राप्त हरेक प्राणी को होता है इसे अभिनिवेश कहते हैं। ये पाँचों क्लेश हरेक प्राणी को सन्तप्त कर रहे हैं अतएव इससे छुटकारा के लिए क्रिया योग अपेक्षित है।

अष्टाङ्गयोग

चित्त की शुद्धि के लिये योग के आठों अङ्गों का उपदेश भी पातञ्जल दर्शन में महत्त्व रखता है' उसका यहां संक्षिप्त परिचय देते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यही आठ अङ्ग माने जाते हैं। अहिंसा, सत्य ब्रह्मचर्य, चोरी

न करना और अपरिग्रह ये पाँचों यम कहे जाते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं। इन यम नियमों के पालन से मुमुक्षुसाधकों को मोक्ष सिद्धि तथा सिद्धिकामियों को अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। तीसरा आसन है जिसके चौरासी भेद माने जाते हैं जिनमें पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकादि मुख्य हैं। आसन के अभ्यास से योगी द्वन्द्व (शीतोष्ण आदि) सहन का अभ्यासी होता है। चौथा अङ्ग प्राणायाम है इससे प्राण पर विजय प्राप्त होती है पूरक, रेचक कुम्भक आदि भेदों से प्राणायाम अनेक प्रकार का है। प्राणायाम के अभ्यास से आत्मा के आवरण का नाश होकर धारणा की योग्यता प्राप्त होती है। पांचवां प्रत्याहार नाम योगाङ्ग है। चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियों का जो निरोध होता है तथा जिससे इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है उसे ही प्रत्याहार कहते हैं। ये पाँचों योग के बहिरंग साधन हैं। धारणा ध्यान और समाधि ये तीनों अन्तरंग साधन कहे जाते हैं। ये तीनों मिलने पर संयम कहलाते हैं। किसी देश अन्तर या बाहर में चित्त का लगाना धारणा देशवन्धश्चित्तस्य-धारणा, कही जाती है 'तत्रप्रत्यैकतानताध्यानम्' देश विशेष या आत्मा में अनवच्छिन्न रूप से वृत्ति की स्थिति ध्यान कहलाता है। त्रिपुटीका लय होकर स्वरूपमात्र के अनुभव का नाम समाधि है। इन्हीं तीनों साधनों से अनेक प्रकार की सिद्धियां होती हैं जिन्हें विभूतिपाद में कहा गया है।

उपसंहार

योग शास्त्र में सिद्धियों का निरूपण भी एक प्रधान विषय है, बिना सिद्धि के योग का वर्णन अपूर्ण ही रहता है। इसलिये कैवल्य-पाद में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं 'जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः' अर्थात् जन्म, मन्त्र, तप औषधि और समाधि से शरीर का विलक्षण परिणाम होकर सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशीत्व कहते हैं। सिद्धियों में निराकांक्ष पुरुष ही कैवल्य का पात्र होता है। जब गुणों का परिणाम होना बन्द हो जाता है और पुरुष की स्वरूप में स्थिति होती है उसे ही कैवल्य कहते हैं 'तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इस सूत्र द्वारा कहा गया है यही इस दर्शन का परम लक्ष्य है।

वैष्णव दर्शन-८

वैदिक धर्म के कुछ सिद्धान्तों में हेर फेर के साथ वैष्णव दर्शन का आविष्कार किया गया है। प्राचीन वैष्णवों का सिद्धान्त भी अद्वैत ही था परन्तु बाद के आचार्यों में मतभेद होकर द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मतवादों से संकुल यह दर्शन हो गया है। संक्षेप में भागवत सिद्धान्त इस प्रकार माना जाता है। भगवान वासुदेव पराप्रकृति समस्त जगत के कारण हैं उनसे संकर्षण नामक जीव उत्पन्न होता है, संकर्षण से मनरूप प्रद्युम्न की

उत्पत्ति होती है और उनसे अहंकार रूप अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है, यही भागवत मत में चतुर्व्यूह कहा जाता है। व्यूह का लक्षण इस प्रकार किया जाता है 'व्यूहोनाम सृष्टिस्थिति संहारार्थ संसारि-रक्षणार्थमुपासकानामनुग्रहार्थं च संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्ध रूपेणाव-स्थितिः' अर्थात् जगत की सृष्टि, स्थिति संहार के लिये संसारियों के रक्षणार्थ तथा उपासकों की रक्षा के लिए संकर्षण; प्रद्युम्न अनिरुद्ध रूप से भगवान चतुर्व्यूह कहलाते हैं—(तत्त्वत्रय)। षडविध ऐश्वर्यपुक्त भगवान वासुदेव हैं, शेष तीनों व्यूहों में केवल दो दो ऐश्वर्य ही हैं जैसे 'तत्रसंकर्षणो ज्ञानबलभ्यांयुक्तो जीवतत्त्वमधिष्ठाय तत्प्रकृते विविच्य प्रद्युम्नावस्थां प्राप्य शास्त्र प्रवर्तनं जगत्संहारं च करोति'—(तत्त्वत्रय) सङ्कर्षण ज्ञानबलसे युक्त, जीवतत्त्वके अधिष्ठाता भगवान वासुदेव से पृथक् प्रद्युम्नावस्था को प्राप्तकर जगत्संहार करते हैं। प्रद्युम्न का लक्षण इस प्रकार किया जाता है 'प्रद्युम्नऐश्वर्यवी-र्याभ्यां युक्तो मनस्तत्त्वमधिष्ठाय धर्मोपदेशं मनुचतुष्टय प्रभृति शुद्धवर्गसृष्टिं च करोति' अर्थात् ऐश्वर्यवीर्य से युक्त मनस्तत्त्व का अधिष्ठाता धर्मोपदेश करने वाला चारों वर्णों की सृष्टि विधायक प्रद्युम्न कहाता है। अनिरुद्ध का लक्षण इस प्रकार है 'अनिरुद्धः शक्ति तेजोभ्यां युक्तो रक्षणस्य तत्त्वज्ञानप्रदानस्य कालसृष्टे मिश्र-सृष्टेश्च निर्वाहकः' (तत्त्वत्रय) अर्थात् शक्ति तेज से युक्त रक्षा एवं तत्त्वज्ञान प्रदान, काल सृष्टि तथा मिश्र सृष्टि का जो निर्वाह करने वाला है उसे अनिरुद्ध कहते हैं। इनका विशेष वर्णन विष्वकसेन संहिता नामक ग्रन्थ में किया गया है जो कि वैष्णवों का प्रामाणिक

ग्रन्थ है किसी किसी के मत में तीन दो और एक ही व्यूह की कल्पना होती है। तथापि वे सब भगवत्स्वरूप तथा मुमुक्षुओं के उपास्य समान रूप से हैं। इनसे अतिरिक्त ब्रह्मा, शिव, पावक व्यास परशुराम, अर्जुन, कुबेर आदि रूप गौण प्रादुर्भाव होने से उपासना के योग्य नहीं है। इस मत में ईश्वर के पाँच स्वरूप माने गये हैं 'ईश्वर स्यस्वरूपं परव्यूह विभवान्तर्यामित्वार्चावतारभेदेन पंच प्रकारम्' जिसमें सर्वविध ऐश्वर्ययुक्त जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण पराप्रकृति वासुदेव हैं। व्यूह का निरूपण उक्त प्रकार का है। विभव, आवेश और स्वरूप दो प्रकार के हैं। आवेश परशुरामादि, स्वरूप रामकृष्ण आदि। 'अन्तर्यामित्वमन्तः प्रविश्य नियतृत्वम्' अन्तःकरण में इन्दीवर श्यामल रूप से ध्येय अन्तर्यामी कहलाते हैं। अर्चावतार प्रतिमादि रूप से पूजित विष्णु विग्रह। इस मत में जीवात्मा अणुपरिमाण है, देह इन्द्रिय विलक्षण अव्यक्त अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय, सर्वथा ईश्वर के अधीन। अज्ञ जड़ परिणाम शील प्रकृति तत्त्व है। यह निरूपण आचार्य रामानुज ने किया है। इसे सभी वैष्णव मानते हैं। महाभारत शान्ति पर्व के नारायणीयोपाख्यान में भी कहा है, नच जीवं विनाब्रह्मन् वायवश्चेष्टयन्त्युत। सजीवः परि संख्यातः शेषः संकर्षणः प्रभुः। समनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते तस्मात् प्रस्तुतो यः कर्ता कारणं कार्यमेव च। तस्मात्सर्वसम्भवति जगत्स्था वरजङ्गमम्। सोऽनिरुद्धः स ईशानोऽव्यक्तः सर्वकर्मसु। योवासुदेवोभगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः। ज्ञेयः सएव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः। संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते।

प्रद्युम्नोऽनिरुद्धश्च सोहंकारः स ईश्वरः। महाभा० शान्ति० अ० ३३९ श्लो० ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१ अर्थात् हे ब्रह्मन् बिना प्राण के जीव के अन्दर कोई व्यापार नहीं हो सकता है शेष ही संकर्षण रूप से जीव कहलाते हैं वह सब प्राणियों के मनरूप से प्रद्युम्न कहे जाते हैं जिससे यह समस्त कार्य कारण रूप जगत उत्पन्न होता है उसे अनिरुद्ध कहते हैं. जो सबका स्वामी तथा सब कार्यों में व्यक्त हो रहा है जो भगवान वासुदेव निर्गुण क्षेत्रज्ञ हैं वही संकर्षण जीव हैं। उनसे मन रूप प्रद्युम्न हुये और प्रद्युम्न से अहंकार रूप वाले अनिरुद्ध हुये हैं। पांच रात्र मत में जीव की उत्पत्ति मानी जाती है यह अश्रौत मत है इसलिये श्री नीलकण्ठ भट्ट शान्ति पर्व अ० ३३९ श्लोक ३४ की टीका करते हुये कहते हैं 'स एव इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य इति श्रुतेरर्थं संगृह्णाति तदिति आविशत्ति इति प्रवेशावत्या पांचरात्राभिमतो जीवोत्पत्ति पक्षोऽपास्तः' अर्थात् पराप्रकृति भगवान वासुदेव ही जीव रूप से प्रविष्ट हुये हैं इससे पांचरात्र मत में कहा हुआ जीव उत्पत्ति पक्ष निराकृत हुआ। वेदान्त दर्शन में उत्पत्त्य सम्भवात्' अधिकरण में जीव की उत्पत्ति का खण्डन किया गया है। श्री रामानुजाचार्य इस अधिकरण को पूर्व पक्ष में न मानते हुये सिद्धान्त पक्ष में ही मानते हैं। श्री मध्वाचार्य तथा श्री निम्बार्काचार्य शाक्तमत के खण्डन में लगाते हैं तथापि ये अर्थ क्लिष्ट एवं असंगत से प्रतीत होते हैं प्राचीन उपनिषदों में चतुर्व्यूहमत का उल्लेख नहीं मिलता है। इस मत का आधार कोई कोई एकायन

शाखा बताते हैं तथापि यह भी अन्वेषणीय कोटि में ही है । अर्वाचीन काल के कई उपनिषदों में इसका उल्लेख मिलता है जैसे मुद्‌गल उपनिषद तथा श्री मध्वाचार्य ने 'अनुज्ञा परिहारौ देह सम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्' वे० द० आ० २–३–४८ के भाष्य में चतुर्वेद शिखा नाम के किसी वैदिक ग्रन्थ का प्रमाण दिया है जिसमें चतुर्व्यूह का उल्लेख किया गया है, परन्तु यह भी अत्यन्त नव्य ग्रन्थ प्रतीत होता है । श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी यह सिद्धान्त नहीं है 'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । मद्‌भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः (अ०१०६) इस श्लोक के 'चत्वारः' इस पद मात्र से लोकमान्य तिलक ने चतुर्व्यूह मत की सिद्धि करने का प्रयत्न किया है तथापि 'चत्वारो जाताः' ऐसा अन्वय होने से चतुर्व्यूह मत से विरुद्ध पड़ता है क्योंकि उत्पत्ति केवल तीन ही व्यूह की है चौथे की नहीं । श्री शंकराचार्य ने चतुर्व्यूह सिद्धान्त को अवैदिक बताया है परन्तु आज-कल शाङ्कर मत के सन्यासी अपने चातुर्मास्य व्रतारम्भ में पूजा विधान के सहित चतुर्व्यूह का स्थापन करते हैं जिसे धर्मसिन्धुकार ने लिखा है । यह क्यों है इसका उत्तर विचारणीय है । निर्णयसिन्धुकार इसका समर्थन नहीं करते धर्मसिन्धुकार का वैष्णवपन ही इसमें प्रधान कारण ज्ञात होता है ।

पंच साधन

भागवत सिद्धान्त द्वारा जीव पांच प्रधान उपायों द्वारा बहुकाल पर्यन्त भगवान का आराधन करके उनका सांनिध्य प्राप्त करता है

जिन्हें (१) अभिगमन (२) उपादान (३) इज्या (४) स्वाध्याय (५) और योग कहते हैं। वाणी शरीर, मन संयम पूर्वक भगवान के अर्चास्थानों को जाना अभिगमन कहलाता है। पूजा के द्रव्यों का उपार्जन उपादान कहलाता है। अनेकोपचारों युक्त पूजा को इज्या कहते हैं। अष्टाक्षरादि (ॐ नमोनारायणायादि) जप स्वाध्याय कहलाता है। ध्यान एकाग्र वृत्ति से चिन्तन को योग कहते हैं। पंचरात्र को मान कर नारद भक्ति सूत्र श्रीमद्‌भागवत पुराण आदि ग्रन्थों द्वारा भागवत धर्म का स्फुट व्याख्यान किया गया है, शाण्डिल्य भक्ति सूत्रों से भी यह मत स्पष्ट ज्ञात होता है।

श्रीरामानुज दर्शन–१

तत्त्वज्ञान में श्री रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत मानते हैं; जिसका विवरण गीताभाष्य में आपने इस प्रकार किया है 'अत्रेदं तत्त्वं अचिदवस्तुनश्चिद्‌वस्तुनः परस्य ब्रह्मणो भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन च स्वरूप विवेकमाहुः। एवं चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेदः स्वाभाविक भेदश्च वदन्तीनां तासां कार्यकारणान्यत्वं च वदन्तीनां सर्वासां श्रुतीनामविरोधः श्रुतिभिरेव ज्ञायते इति (गी॰ १३–२ रामानुज भाष्य) अर्थात् तत्त्व ज्ञान विषय में यह निर्णय है। अचिद् (जड़) चिद् (जीव) जीवभोक्ता एवं जड़ भोग्य है इनसे भिन्न तीसरा तत्त्व इनका स्वामी है इन तीनों तत्वों का परस्पर भेद अर्थात् स्वाभाविक भेद श्रुतियों को इष्ट है और इनका कार्य कारण भाव सम्बन्ध भी इष्ट है तथा इनका भेद भी सम्मत है इस प्रकार

श्रुतियों का अविरोध ज्ञात होता है। दूसरा मन्तव्य इस प्रकार है 'अतः स्थूल सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु शरीरं ब्रह्म कार्यं कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत् सूक्ष्म चिदचिद वस्तु शरीर ब्रह्मैव कारणमिति' (गो० १३–२ रा० भा०) अर्थात् सूक्ष्म चिद् अचिद सहित ब्रह्म ही कार्य एवं कारण है। सूक्ष्म चिद् एवं अचिद् से स्थूल चिद् एवं अचिद् उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म ही इनका उपादान कारण है इस तरह ये तीनों अभिन्न होने से अद्वैत भी हैं परन्तु केवल द्वैत नहीं प्रत्युत विशिष्टाद्वैत है। चिद् अचिद् ब्रह्म के विशेषण तथा ब्रह्म विशेष्य हैं। इस विषय में भी आप लिखते हैं तथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञं च मद् विशेषणतयैव स्वभावतया मत्पृथक् सिद्धेर्मत्समानाधिकरण्येनैव निर्देश्यौ विद्धि' (गी० १३–२) अर्थात् क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनों ईश्वर के विशेषणत्वरूप से एक स्वभाव होने से ईश्वर से अभिन्न सिद्ध है। अर्थात् ईश्वर के समानाधिकरण रूपों से ही निर्देश किये जाते हैं। इस प्रकार का तत्त्वज्ञान आचार्य रामानुज ने भागवत धर्म में स्वीकार किया है। वेदान्त दर्शन का श्रीभाष्य भी इसी मन्तव्य का पोषक है विशेषतः श्वेताश्वतरोपनिषद् इस सिद्धान्त का मूल है वेदान्त दर्शन श्रीभाष्य के जिज्ञासाधिकरण में आचार्य ने इसे इस प्रकार बतलाया है 'क्षरं प्रधान ममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः' (श्वे० १–१०–) प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः (श्वे० ६–१६) प्रकृति अनित्य तथा जीव अविनाशी इन दोनों का स्वामी एक देव है, प्रकृति, जीव तथा ईश्वर में तीनों तत्त्व हैं' इन वचनों से इनका परस्पर भेद सिद्ध होता है। 'यस्य पृथिवी शरीरं यस्यात्मा

शरीरं यस्याव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरम् । एषसर्व भूतान्तरात्मा पहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः (ना० २) इत्यादि भिर्वा– क्यैशिचदचितोसर्वावस्थितयोः परमात्म शरीरतां परमात्मनस्तरात्मतां च प्रतिपाद्य शरीरं भूत परमात्माभिधायिभिः सद् ब्रह्मात्मादिभिः शब्दैः कारणावस्थः कार्यावस्थश्च परमात्मैक एव इति पृथक् प्रतिपन्नं वस्तुत्रितयं, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यं प्रतिपादयति चिदचिद् वस्तु शरीरिणः परमात्म शब्दाभिधाने हिनास्तिविरोधः । यथा मनुष्य पिण्ड शरीरकस्यात्मविशेषस्याय- मात्मा सुखीत्यात्म शब्देनाभिधान इत्यलमिति विस्तरेण । जो अर्थ इन वचनों में कहा गया है ऊपर गीता भाष्य में ज्यों का त्यों आ गया है अतः इसका अर्थ हिन्दी में नहीं लिखते ।

श्रीमध्व या पूर्णप्रज्ञ दर्शन–२

श्री मध्वाचार्य के मन में ईश्वर जीव प्रकृति इन तीनों पदार्थों को भिन्न भिन्न माना गया है इनकी एकता कभी नहीं हो सकती 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ' विशेषणाच्च (वे०द० १-२- ११, १२) इस सूत्रों की व्याख्या करते हुये उक्त सिद्धान्त को आचार्य ने बताया है तथा पैङ्गिश्रुति का प्रमाण दिया है सत्य आत्मा सत्यो जीवः सत्यंभिदा सत्यंभिदा सत्यंभिदा मे वारुण्यो मे वारुण्यो मे वारुण्यः' तथा आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः जीवोऽल्प शक्तिरस्वतन्त्रों वः, यथेश्वरस्य जीवस्य सतभेदो परस्परम् । इत्यादि शास्त्रीय प्रमाणों से उक्त मत की सिद्धि अर्थात् द्वैत मत माना गया

है। ब्रह्मा शिव आदि देवों में वेदान्त वाक्यों का समन्वय नहीं है एक भगवान विष्णु ही ब्रह्म पद के वाच्य हैं। बाकी समस्त देवजीव कोटि में ही है प्रकृति जड़ सत्य जगत का कारण है श्री नारायण के स्वरूपभूत श्री पराशक्ति चेतन स्वरूप वाली ब्रह्म के अधीन है 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महा वाक्यों का अभिप्राय जीव ब्रह्मैक्य बोध में नहीं है किन्तु स्वरूप मात्र में अभेद भावना का उपदेश है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द का मत भी ऐसा ही है परन्तु जीव के परिमाण तथा अवस्था में भेद है। श्री स्वामी दयानन्द जी जीव को अणु मानते हैं एवं कर्म करने में स्वतन्त्र फल भोगने में परतन्त्र परन्तु मध्व मत में जीव सर्वथा परतन्त्र है। जीव की मुक्ति श्री रामानुज तथा मध्व ज्ञान से न मानकर केवल भगवत्प्रसाद से मानते हैं। स्वामी दयानन्द ज्ञान कर्म से मानते हैं तथा जीव का पुनरावर्तन भी कहते हैं। मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म से भिन्न ही रहता है इन तीनों आचार्यों ने माना है। जीव की स्थिति मध्व मत में इस प्रकार की मानी जाती है 'जीवोपाधिर्द्विधाप्रोक्तः स्वरूपो वाह्य एव च। बाह्योपाधिर्ययं याति मुक्तावन्यस्य तु स्थितिः। सर्वोपाधि विनाशेतु प्रतिबम्ब: कथं भवेत्। कथं चात्मविनाशार्थं प्रयत्न : सेत्स्यति क्वचित्' अर्थात् जीव की दो उपलब्धियां हैं एक स्वरूप दूसरी बाह्य, मुक्ति में बाह्य उपाधि का लय हो जाता है। स्वरूप उपाधि रहती है यदि समस्त उपाधि नष्ट हो जाय तो प्रति विम्ब की स्थिति कहां हो सकती है और स्वरूप नाश के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं करता इसलिये इस मत में जीव प्रतिबिम्बवाद सा

है अन्य भागवत मत के सभी सिद्धान्त कुछ विलक्षणता से मध्व मत में माने जाते हैं। बंगाल के चैतन्य देव भी इसी सिद्धान्त के मानने वाले थे।

श्री निम्बार्क दर्शन ३

वैष्णव सिद्धान्त में तीसरा सम्प्रदाय निम्बार्काचार्य का है भागवत सिद्धान्त की श्रीराधा कृष्ण की भक्ति इस मत में की जाती है इसका तात्त्विक सिद्धान्त है द्वैताद्वैत है। भगवान श्री कृष्ण पूर्ण ब्रह्म वेदान्त प्रतिपाद्य हैं। वही इस जगत के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं, जीव अणुपरिमाण है तथा सर्वथा ईश्वर के अधीन है नानारूप से प्रतीयमान द्वैतात्मक यह जगत भी सत्य है तथा परमार्थ रूप में अद्वैत भी सत्य है। इसीलिये द्वैताद्वैत दोनों अवस्थायें सत्य होने से इस मत को द्वैताद्वैती कहते हैं। श्री भट्ट भास्कर का भी मत द्वैताद्वैत है परन्तु निम्बार्क का द्वैताद्वैत विलक्षण है 'उभय व्यपदेशात्त्वहि कुण्डलवत्' वे॰ द॰ ३-२-२७ इस सूत्रानुसार प्रमाणित किया गया है, जैसे सांप जब सोता है तब कुण्डलाकार रहता है जब चलता है तब लम्बा हो जाता है ये दोनों अवस्थायें उसमें रहती हैं इसी प्रकार जब ब्रह्म जीव प्रकृति के साथ मिलकर लीला करता है तब द्वैत जब लय करता है तब अद्वैत हो जाता है। यह भास्कर तथा निम्बार्क के सिद्धांतों में भेद का निरूपण शुद्धाद्वैत मार्तण्ड में इस प्रकार बताया है 'निम्बार्क भास्कराचार्यौ भेदाभेद निरूपकौ। ३६' तत्राद्यानां वास्तवः सभा-

स्कराणमुपाधित: । तत्राधे वास्तवोभेदो मध्वाचार्य वदेवहि ।३७।
अर्थात् निम्बार्क तथा भट्ट भास्कर के मत भेदाभेद दोनों हैं परन्तु भास्कर मत में जीव ब्रह्म का भेद औपाधिक है निम्बार्क मत में भेद तथा अभेद दोनों अवस्थाओं में भेद वास्तविक है जैसे मध्वाचार्य का द्वैत है। चित्त्व साधर्म्य से अद्वैत है। भट्ट भास्कर के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट लिखते हैं। स्वाच्छरीरादव्याकृत रूपादव्या कृतमेव भगवद् भास्करीय वेदान्त दर्शने प्रकृति अव्याकृतस्य ब्रह्मणसह भेदाभेद स्वीकारात् ब्रह्माद्वैतम् (म० अ० १-८) ब्रह्मोपासनासे भेद निवृत्त होने पर अद्वैत होता है। यह दोनों मतों ा भेद है। श्री निम्बार्क मत में अनन्त कल्याण गुण वाला सगुण ब्रह्म है भागवत मत की चतुर्व्यूहादि कल्पनायें इस मत में भी मान्य हैं।

श्री बल्लभ दर्शन-४

श्री विष्णु स्वामी के सिद्धान्त को मानकर भागवत धर्म की व्याख्या करने वाले श्री बल्लभाचार्य का सिद्धान्त भी भक्तिमार्गीय ही है। भक्ति दर्शन का सिद्धान्त इस मत में सर्वोच्च प्रकार से कहा गया है। प्रमेयरत्नार्णवग्रन्थ में भक्ति के प्रकार तथा स्वरूप का विशद वर्णन किया गया है। श्री बल्लभ स्वामी का सिद्धान्त तत्वज्ञान में शुद्धाद्वैत्त है। जिसका संक्षिप्त रूप ऐसा है :-एक सच्चिदानन्द ब्रह्म से ही यह समस्त जगत् उत्पन्न होता है वही जगदाकार परिणत हो गया है इसके लिये माया प्रकृति या परमाणु की अपेक्षा नहीं है।

यह जगत भीं ब्रह्म ही है। ब्रह्मा के सदंश से जड़ सृष्टि, चिदंश से जीव सृष्टि एवं आनन्दांश से अन्तर्यामी सृष्टि होती है। जड़ और जीव भी सच्चिदानन्द की ही सृष्टि है। तथापि वह भगवान बहुभवन की इच्छा से सत्पदार्थों में चित्त और आनन्द अंश का तिरोभाव कर लेता है। केवल सत्पदार्थों में सदंश का और चित्य पदार्थों में चिदंश का विशेष आविर्भाव रहता है इसलिये इन्हें जड़ एवं जीव कहते हैं। भगवान के कर चरणादि समग्र अवयव अप्राकृत हैं इन्हें ही आनन्दमय कहा जाता है। इसीलिये उसे कभी-कभी निराकार भी कहते हैं क्योंकि उसके रूप प्राकृतिक या मायिक नहीं हैं। भगवान में समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, लक्ष्मी ज्ञान और वैराग्य ये छः गुण सदैव रहते हैं। जीव भी ब्रह्मांश है तथापि भगवान की बहुभवन की इच्छा से आनन्दांश के साथ-साथ उक्त छः गुण भी तिरोहित हो गये हैं इसीलिये सर्व हीनत्त्व, पराधीनत्त्व सर्व दुःख सहन आदि गुण जीव में आ जाते हैं, उक्त मन्तव्य का शुद्धाद्वैतमार्तण्ड में इस प्रकार कहा गया है :- साकारंसर्वशक्त्येक सर्वज्ञ सर्व कर्तृ च। सच्चिदानन्दरूपं हि ब्रह्मतस्मादिदं जगत ॥८॥ अर्थ—साकार, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं उससे जगत उत्पन्न होता हैं। अग्नेर्यथा विस्फुलिगास्तथा जीवोन्दमःस्फुटः। अग्नि से जैसे छोटी छोटी चिनगारियां पैदा होती हैं ऐसे ही जीव ब्रह्म से प्रकट होते हैं उनका अणु परिमाण है। विसर्पिगुण चैतन्योणुजीबो शोहरेः स्मृतः' प्रसरणशील चैतन्यगुण वाला जीव हरि का अंश है। यह जगत भी ब्रह्म ही है केवल रमण की इच्छा से

ब्रह्म जगदाकार हुआ है रमणार्थमिदंसर्वं ब्रह्मैव स्वेच्छयाभवत् । यथासर्पः स्वेच्छया हि कुण्डलाकारतांगतः । अर्थ,—केवल रमणार्थ अपनी स्वेच्छा से ब्रह्म जगद्रूप हुआ है जैसे सर्प स्वेच्छा से ही कुण्डलाकार हो जाता है । इस प्रकार श्री बल्लभाचार्य ने अन्य वैष्णवों से विलक्षण स्वसिद्धान्त बतलाये हैं । वेदान्त दर्शन का अणुभाष्य इसी सिद्धान्त का पोषक है विशुद्ध अद्वैतवादी होते हुये भी श्री बल्लभ मत ज्ञानाद्वैतवादी नहीं हैं जीव की मुक्ति पूर्ण शरणागति से होने वाले भगवत्प्रसाद से होती है । इसे पुष्टि मार्ग भी कहते हैं । श्री शंकराचार्य से भी पूर्व श्री हरि वृत्तिकार भी ऐसा ही अद्वैत मानते थे । श्री बल्लभ दर्शन में जगत और संसार का भेद है, जगत सत्य तथा संसार मिथ्या एवं असत् है चतुर्व्यूहादिस्वीकार इस मत में भी भगवान श्री कृष्ण के बाल स्वरूप की उपासना इस मत में होती है ।। इति ।।

शैव दर्शन ६

शैव सिद्धान्त प्राचीन समय से ही प्रवृत्त है । वेद के बहुत से भाग शैव सिद्धान्त के समर्थक हैं । महाभारत, उपनिषद, पुराणों में तो स्फुट रूप से शिवतत्त्व का निरूपण मिलता है वेदान्त सूत्रों पर श्री कण्ठाचार्य का विशद भाष्य श्रुतियों का समन्वय ब्रह्मरूप शिवतत्त्व में ही लगाता है । श्री अप्पयदीक्षित की टीका इसे स्पष्ट कर देती है इसका तत्त्वज्ञान का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत है जिसे (ईक्षतेर्नाशब्दम्) (वे० द० १-१-५) सूत्र के भाष्य में इस प्रकार कहा गया

है। नामरूप विभागानर्हं सूक्ष्मचिद्चिद् शक्ति विशिष्टस्यपरमेश्वरस्य कारणत्त्वं नामरूप विभागार्हं स्थूलचिदचिच्छक्ति विशिष्टस्य कार्यत्त्वम्, अर्थात् नामरूप विभाग के अयोग्य सूक्ष्म चिद-अचिद् शक्तियों से विशिष्ट परमेश्वर शिव ही इस जगत के कारण हैं। नाम रूप विभाग के योग्य स्थूल चिद् अचिद् शक्ति विशिष्ट ब्रह्म ही कार्य है। जगत सत्य, जीव अणुपरिमाण है। वैष्णवसम्प्रदाय में आचार्य रामानुज का सिद्धान्त तथा श्री कण्ठ सिद्धान्त एक ही है। केवल उपासना में ही अन्तर है इसीलिये कितनों ने श्रीकंठ पर रामानुज मत चौर का दोषारोपण किया है परन्तु यह अयोग्य है श्रीकण्ठ शंकराचार्य से भी पहले के हैं सूत्रार्थ चन्द्रिका में श्री शंकर, रामानुज और मध्व से भी पहले इन्हें बताया गया हैं। यद्यप्येष प्राक्तनस्या श्रीमच्छ्री कण्ठ योगिनः, ऐसा कहा गया है। श्रीकण्ठ के मत से भगवान शिव वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म सविशेष अनन्त कल्याण गुणाकर हैं। 'सदव सोम्येदमग्र आसीदेक मेवाद्वितीयम्' इस श्रुति से विशिष्टाद्वैत सिद्ध किया गया है। 'सद् एव' पद से जीव (चिद्) जड़ (अचिद्) का पृथक्करण नहीं किया गया है किन्तु असद् कारणवाद का निराकरण समझना चाहिये। प्रकृति प्रत्यय वैशिष्टच प्रतिपादन में भी विशिष्ट का अर्थ होता है। जिसे कहा गया है। शक्तिः शिवश्च सच्छब्द प्रकृति प्रत्ययोदितौ। ब्रह्म सामरस्येन समस्त जगदात्मकौ' इस मत को प्राचीन समय में बौद्धायन ऋषि ने वेदान्त सूत्र वृत्ति में प्रतिपादन किया था इसे श्री रामानुज ने अवतरण में कहीं कहीं श्रीभाष्य में

दिया है उसे ही श्रीकण्ठ एवं रामानुज ने अपने भाष्यों में विस्तार किया है। इसके अतिरिक्त वैष्णवों की ही तरह कई संप्रदायें शैवों में भी प्रचलित हैं जिनमें द्वैत अद्वैत दोनों का स्वीकार किया गया है जिन्हें नकुलीश पाशुपत, माहेश्वर, प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर कहते हैं। जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

नकुलीश पाशुपत–१

पुराण ग्रन्थों में इस मत के श्लोक इस प्रकार पाये जाते हैं, ब्रह्माद्या स्थावरान्ताञ्चदेव देवस्य शूलिनः। पशवः परिकीर्त्यन्ते संसारवशवर्तिनः। तेषाँपतित्वाद्देवेशः शिवः पशुपतिः स्मृतः। मलमायादिभिः पाशैः सवध्नाति पशून्पति : स एव मोचक स्तेषां भक्त्या सम्यगुपासितः। चतुर्विंशति तत्त्वानि मायाकर्मगुणा–अमी। विषया इति कथ्यन्ते पाशा जीवनिबन्धनाः। ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तान् पशून्वध्वा महेश्वरः। पाशैरेतैः पतिर्देवः कार्यं कारयति स्वकम्। अर्थः—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सारे जीव सुख दुःख भोगाने वाले महेश्वर के पशु हैं उनके स्वामी शिव पशुपति कहलाते हैं। मलमाया आदि पाशों से उन्होंने सब पशुओं को बांध रक्खा है, सम्यग् भक्ति पूर्वक उपासना करने से भगवान् पाशों से मुक्त भी कर देते हैं, चौवीस तत्त्व, माया, कर्म, गुण ये विषय हैं। पाश जीवों से सम्बन्ध रखते हैं. ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (तृण) पर्यन्त पाशों से बांध कर महेश्वर अपना कार्य करा रहे हैं, इसका विशेष विवरण माहेश्वर दर्शन में करेंगे। नकुलीश मत में पांच पदार्थ माने जाते

हैं जिन्हें 'कार्य कारण योगविधि दुःखन्ताः पञ्च पदार्थाः इस सूत्र से कहा गया है। पृथिवी आदि पञ्चभूत तथा रूपादि गुण कार्य कहे जाते हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार ये तेरह कारण कहे जाते हैं। ध्यानादि को योग कहते हैं। धर्मार्थ व्यापार विधि कही जाती है और वह दो प्रकार की है। (१) व्रत और उपहार, भस्मस्नान और भस्म शयन आदि व्रत हैं। उपहार छः प्रकार के हैं "हसितगीत नृत्य हुडुक्कार, प्रणाम जप्यषडङ्गो पहारेण उपतिष्ठेत" हँसना, गाना, नाचना, हुडुक्कार, नमस्कार और जप इन छः बातों से उपहार रूप विधि सिद्ध होती है। कण्ठ और ओष्ठ को खोलकर 'अह' इस प्रकार अट्टहास को हंसित कहते हैं। गान्धर्व शास्त्रानुसार राग रागिनी द्वारा महेश्वर को गुणों का कीर्तन गाना कहा जाता है। ताण्डवादि द्वारा भगवान को तुष्ट करना नृत्य है, जिह्वातालु के संयोग द्वारा जो शब्द किया जाता है उसे हुडुक्कर कहते हैं। बाह्यक्रिया योग को जप्य कहते हैं। अष्टांगादि प्रकार नमस्कार होता है। ये सब बातें गोपनीय रूप में करनी चाहिए। त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति दुःखान्त मोक्ष कहा जाता है अन्य शास्त्रों में कारण सापेक्ष माना जाता है परन्तु इस शास्त्र में भगवान् पाशुपति निरपेक्ष कारण हैं, अन्य मत में योग से कैवल्य होता है परन्तु इस मत में दुखान्त के साथ परमैश्वर्य भी प्राप्त होता है। यही विशेष है। कर्मकाण्ड से प्राप्त होने वाला स्वर्ग सुख अनित्य है। परन्तु पाशुपति मत की मुक्ति आवृत्ति जनक नहीं है। इस मत में जीव ईश्वर का नित्य भेद

है। जीव पशु तथा ईश्वर पशुपति हैं। इस मत में जीव कृत धर्माधर्म की अपेक्षा न करते हुये ईश्वर सृष्टिकर्त्ता माने जाते हैं। 'पत्युरसामञ्जस्यात्' इस सूत्र में पाशुपत मत के वेद विरुद्धांशक निराकरण किया गया है।

माहेश्वर दर्शन २

पाशुपत निरपेक्ष कारणवाद जो ईश्वर के विषय में माना जाता है उसका खण्डन करते हुये माहेश्वर शैव कहते हैं कि ईश्वर जगत का निरपेक्ष कारण नहीं है क्योंकि वैषम्य नैर्घृण्य दोष उसे प्राप्त होगा। किसी एक को बड़ा किसी को छोटा बनाने में कोई क्षेवकृत हेतु न होने से वैषम्य तथा किसी को दुःखी किसी को सुखी बनाने में नैर्घृण्य दोष से ईश्वर अवश्य दूषित होगा। इस लिये भिन्न सम्प्रदाय रूप से तीन पदार्थों को मानना चाहिये जिन्हें पशु, पाश और पति नाम से इस दर्शन में कहा जाता है। पशु परतन्त्र, पाश अचेतन और पति इन से विलक्षण है अर्थात् सर्व श्रेष्ठ चेतन गुण वाला है। पति पदार्थ भगवान शिव हैं, मुक्तात्माओं को भी शिवत्व है तथापि उन्हें सर्वथा स्वातन्त्र्य नहीं है वे मुक्त होने पर भी ईश्वर के अधीन ही हैं 'भोगमात्र साम्य लिङ्गाच्च'जगद् व्यापारवर्जम्' इत्यादि वेदान्त सूत्र भी इसमें प्रमाण है। जगत के पदार्थों की रचना के लिये ईश्वर को मानना आवश्यक है क्योंकि कर्ता के बिना जगद् रचना असम्भव है यह वैशेषिक प्रकरण में कहा जा चुका है। ईश्वर जगत बनाकर जीवों के

कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है कहा भी है अज्ञो जन्तुर-नीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः । ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्स्वर्गंवाश्व-भ्रमेवच' फल भोगने में जीव के कर्म ही निमित्त हैं ऐसा मानने पर वैषम्यनैर्घृण्य दोष नहीं होता 'वैषम्यनैर्घृण्ये इति चेन्न सापे-क्षत्वात्' यह व्यास सूत्र भी प्रमाण है । जीवों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा रखते हुये जगत्कार्य में ईश्वर की प्रेरणा में स्वातन्त्र्य विघात नहीं हो सकता इसे सिद्ध गुरु ने इस प्रकार कहा है 'स्वा-तन्त्र्यस्य प्रयोज्यत्वं करणादि प्रयोक्तृता । कर्तुः स्वातन्त्र्यमेतद्हि नच कर्माद्यपेक्षिता' अपने ऊपर किसी अन्य की प्रयोजकता न होते हुये इन्द्रियादि करणों की प्रयोजकता ही स्वातन्त्र्य है कर्मादि की निरपेक्षता नहीं । इस मत में ईश्वर निराकार निमित्त कारण माना जाता है । परन्तु भक्तों की रक्षा के लिये मूर्तिमान भी होता है 'मलाद्यसम्भवात शाक्तं वपुर्नैतादृशंप्रभोः । मलादि दोषों से रहित होने से ईश्वर का शरीर प्राकृत नहीं है । क्योंकि निराकार की उपासना नहीं हो सकती अतएव उपासना के लिये साकार मानना आवश्यक है । यह पतिपदार्थ का संक्षिप्त परिचय है ।

दूसरा पशुपदार्थ है जिसे जीवात्मा या क्षेत्रज्ञ कहते हैं जिसका विभु परिमाण है । काल से अपरिच्छिन्न होने से नित्य सिद्ध है । ज्ञान क्रिया आत्मा में नित्य रहने से चेतनतया अनेक हैं । शिव तत्त्व के ज्ञान से पाशों से उसका छुटकारा होता है ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' यह श्रुति का प्रमाण है ।

पशुतत्त्व तीन प्रकार के हैं (१) विज्ञानाकल (२) प्रलयाकल

(३) सकल। प्रथम विज्ञान योग, संन्यास, तपस्वाध्याय आदि द्वारा कर्मक्षय होने पर कर्मनाशोदं योगी भोग बन्ध शून्य केवल मलयुक्त विज्ञानाकुल हैं। मल और कर्म दोनों से मिले हुये प्रलय से लेकर कला के उपसंहार पर्यन्त जो हैं उन्हें प्रलयाकल कहते हैं। मल माया और कर्म इन तीनों बन्धनों युक्त सकल होता है। जिनमें से विज्ञानाकुल के दो भेद हैं(१)समाप्त कलुष और असमाप्त कलुष। प्रलयाकल भी दो प्रकार के हैं पक्वपाश और अपक्वपाश। इसी प्रकार सकल भी पक्व कलुष तथा अपक्व कलुष के भेद से दो प्रकार के हैं। परमेश्वर शिव अपक्व कलुष जीवों को कर्मपाश वश भोग मुक्त करते हैं और इनसे भिन्न जीवों को भी कर्मानुसार भोग में नियुक्त करते हैं। इस प्रकार पशु पदार्थ का संक्षेप है। तीसरा पदार्थ पाश है:—जो इस प्रकार माना जाता है 'प्रकृतीशौ वलंकर्ममायाकार्यं चतुर्विधम्। पाशजालं समासेन धर्मनाम्नैव कीर्तितम्' अर्थात् आत्मा की दृक् शक्ति और क्रिया शक्ति को जो ढक लेती हैं उसे प्रकृति कहते हैं और उसे ही स्वाभाविक अशुचि मल कहते हैं यह मल स्वतन्त्र रीति से आत्मा की क्रिया शक्ति एवं दर्शन शक्ति को जैसे भूसी धान को या कालिमा तवे को ढक लेती है वैसे ही आवृत कर लेती है यही प्रथम पाश है। दूसरा पाशबल है यह पुरुष के लिये हितकर होता है इसे विरोध शक्ति भी कहते हैं इसीलिए पाश कहलाता है। फलेच्छा को कर्म कहते हैं। धर्माधर्म के प्रवाह से जो अनादि हैं इसी से जगद् वैचित्र्य प्रतीत हो रहा है इसीलिए यह तीसरा पाश कर्म है। चौथा पाश माया है

जिसमें शक्ति रूप से सारा जगत रहता है जो सृष्टि तथा प्रलय का आधार है। यही चार इस मत में पाश हैं जिनकी निवृत्ति विद्या, दीक्षादि साधनों से होती है। लज्जा, घृणा, जुगुप्सा भय, शंका, कुल शील और जाति ये आठों पाश इन्हीं में गतार्थ हैं इनसे निवृत्त होकर शिवसान्निध्य प्राप्त करना ही इस दर्शन का परम लक्ष्य है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन–३

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में केवल ईश्वर की इच्छा मात्र से सृष्टि मानी जाती है। ईश्वर और जीव का तादात्म्य या अभेद इस मत में माना जाता है। शिवसूत्र प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, आदि ग्रन्थों का यही सिद्धान्त है। जीव की ज्ञान शक्ति माया के कारण ढकी है वही जब विद्या योग आदि द्वारा हट जाती है और ज्ञान सुख आदि सम्पत्ति की सिद्धि का तत्त्व प्रकाश या अधिगम होता है तब महेश्वर के साक्षात् को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। महेश्वर ज्ञाता तथा जगत के कर्ता हैं जीव में भी ये दोनों बातें हैं अतएव दोनों एक ही हैं। जीव माया से अज्ञानी होकर सुखी दुःखी मालूम होता है इसीलिए भिन्न कहा जाता हैं इसलिये भेदाभेद भी इस मत में माना जाता है। लोक में सम्मुख आयी वस्तु को प्रत्यभिज्ञा से जानते हैं कि 'यह वही पूर्व दृष्ट वस्तु' है इसी प्रकार परिपूर्ण शक्तिमान परमात्मा की शक्तियों का अपने अन्दर प्रकट होना और अपरोक्ष रूप से कहना कि मैं ही ब्रह्म हूं ऐसा इस शास्त्र का

प्रतिपाद्य है। यदि स्वभावतः आत्मा को ईश्वर स्वरूप मान कर आपेक्षिक या काल्पनिक ईश्वरता माने तो मोक्ष की व्यर्थता होगी क्योंकि निरवधि ऐश्वर्य का नाम ही मोक्ष है। ईश्वर आनन्द शक्तिमान होने से अपने से भिन्न प्रतीत होने वाले सबको प्रकाश करता है। अपनी इच्छा के अधीन ही निर्माण शक्ति रहती है। अतः जगत की सत्ता जो कार्य एवं कारण रूप से मानी जाती है वह निरपेक्ष नहीं है। जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि क्रियाओं की अभिव्यक्ति में जगदीश्वर की इच्छा ही प्रधान है। अर्थात् इच्छामात्र ही हेतु है जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण महेश्वर ही हैं जैसे योगी बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा न रखते हुए घट पट आदि वस्तुओं की रचना करता है वैसा ही ईश्वर का कर्तृत्व हैं यदि बाह्य मृत्तिकादि कारण माने जांय तो योगियों की इच्छा मात्र से ही कैसे पटादि की उत्पत्ति होती 'मेयं साधारणं प्रोक्तं, स्वात्माभेदेनमन्यते। महेश्वरो यथावद्धः पुनरत्यन्तभेदवत्' यद्यपि विषयत्व बन्ध एवं मोक्ष काल में तुल्य है तथापि महेश्वर अपने को जीवों से अभिन्न समझते हैं और बद्ध संसारी भिन्न मानते हैं। अभिन्न समझना ही प्रत्यभिज्ञा है जो विद्या योग और समाधि द्वारा प्राप्त होती है। यह संक्षेप रूप से इस दर्शन का रहस्य है।

रसेश्वर दर्शन–४

रसेश्वर शैवों का तत्वज्ञान प्रत्यभिज्ञा शैवों का सा ही है

साधना के उपयोगी शरीर की स्थिति के लिए इस मत में 'पारा' का उपयोग श्रेष्ठ माना जाता है। पारा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं 'संसारस्यपरंपारंदत्तेऽसौपारदःस्मृतः' संसार के पार पहुँचाने से उसे पारा कहते हैं। श्री शिव का कहना भी है "ममदेहरसोयस्मादग्रसस्तेनायमुच्यते" मेरा वीर्य होने से पारा को रस कहते हैं "रसःह्ये वसः" यह श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है। और शास्त्रों में मरने के बाद मुक्ति होती है या नहीं इस विषय में संदेह है। जीवन्मुक्ति ही प्रत्यक्ष है वह रस के उपयोग से सिद्ध होती है। शरीर षड् विकार वाला होने से अनित्य है परन्तु हर गौरी सृष्टि से नित्य हो जाता है हर (पारा) और गौरी अभ्रक को कहते हैं 'येचात्यक्तशरीराहरगौरीसृष्टिजान्तरप्राप्ताः। बन्धास्तेरससिद्धाःमन्त्रगणःकिंकरोयेषाम्। अर्थात् हर गौरी रस के उपयोग से प्राप्त नित्य शरीर वाले रस सिद्ध महा पुरुष बन्दनीय हैं कि जिनका मन्त्रगण दास है। कहा भी है 'अभ्रकस्तुतववीजंममवीजं तुषारदम्। अनयोर्मेलनंदेविमृत्युदारिद्रचनाशनम्' इस रस के प्रभाव से आज भी बहुत से सिद्ध विचरते हैं उनमें देवता, राक्षस राजा और मुनिगण भी हैं। यह शास्त्र केवल रस का ही विचार नहीं करता प्रत्युत शरीर को शुद्ध करके मुक्ति प्रयोजन वाला भी है। शरीर अनित्य ही हो यह नियम नहीं है क्योंकि भगवान वासुदेव, नृसिंह का शरीर अनित्य नहीं है ऐसा वैष्णव भी मानते हैं कि भगवान के कर चरणादि विग्रह अप्राकृत एवं नित्य हैं। जो मुक्ति के साधन शास्त्र में कहे गये हैं उन्हें कफ ज्वर आदि

व्याधियों से पीड़ित नहीं कर सकते। निरोग शरीर से ही साध्य है कहा भी है 'शरीरमाद्यंखलुधर्मसाधनम्' रसेश्वर शैव पारेका लिङ्ग बनाकर पूजते हैं और विश्वनाथ केदार आदि लिङ्गों से श्रेष्ठ बताते हैं। 'रसंलब्ध्वानन्दीभवति' इस श्रुति से रस प्राप्ति द्वारा ब्रह्म प्राप्ति कही गई है, इस प्रकार 'उत्सन्नकर्मबन्धोब्रह्मत्वमिहैव-चाप्नोत्ति' समस्त कर्म बन्धनों से रहित होकर इसी शरीर में ब्रह्मत्व प्राप्ति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति का कारण रस है और इसकी सिद्धि भगवान शिवशंकर की कृपा पर ही अवलम्बित है। यह इस मत का संक्षिप्त सार मात्र है।

शाक्त दर्शन–१०

वैष्णव, शैव दर्शनों में शक्ति पदार्थ ब्रह्म पदार्थ में अन्वित माना जाता है प्रधानता ब्रह्म की है शक्ति पदार्थ गौण है। परन्तु शाक्त मत में शक्ति पदार्थ मुख्य तथा स्वतन्त्र है, प्रत्यभिज्ञा हृदय में कहा है 'चितिःस्वतन्त्रविश्वसिद्धिहेतुः' अर्थात् विश्व का कारण शक्ति तत्त्व स्वतन्त्र है 'यदासापरमाशक्तिःस्वेच्छयाविश्व-रूपिणी। स्फुरत्तामात्मनःपश्येत्तदाचक्रस्यसम्भवः' जब यह विश्व रूप धारण करने वाली परा शक्ति अपनी इच्छा से अपने में स्फुरण करती है तब संसार चक्र की उत्पत्ति होती है। यही परा शक्ति शिव शक्ति रूप धारण करके जगत् का अभिन्न निमित्तो-पादान कारण है इसे ही परावाक् तथा सांविदी कला भी कहते हैं। इसका यह रूप मन वाणी से अगोचर, स्वसंवेद्य है। इससे ही

शाक्त तथा शैव मतों में माने जाने वाले छत्तीस तत्त्वों का आविर्भाव होता है जिसे कहा है 'षट् त्रिशत्तत्त्वात्मातत्त्वातीताचकेवला विद्या' श्रुति में भी कहा है कि 'याप्राणेनसम्भवति अदितिर्देवतामयी। गुहांप्रविश्यतिष्ठंती याभूतेभिर्व्यजायत् एतद् वै तत् (क० ४-७) देवी सूक्त, रात्रि सूक्त सरस्वती सूक्त, आदि रूप से ऋग्वेद में इसी शक्ति पदार्थ का प्रतिपादन किया गया है यजुर्वेद अथर्व में भी इसके प्रतिपादक बहुत विषय हैं जिनसे शाक्त सिद्धान्त स्फुट ज्ञात होता है। शक्तिमान का अभेद होने से ब्रह्म पदार्थ और शक्ति पदार्थ दो नहीं हैं तान्त्रिक शाक्तों के मत से जगत ब्रह्म का परिणाम होने से सत्य है अन्यथा 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य:' इस सूत्र से विरुद्ध होगा क्योंकि जगत यदि मिथ्या हो तो सत्य रूप ब्रह्म से अभिन्नता नहीं होगी। ऐसा होने पर भी श्री वल्लभाचार्य भागवत की सुबोधिनी में शक्तिनिमित्त ब्रह्म परिणाम शाक्तों का मत बताते हैं, तत्रब्रह्मण:समवायित्वं प्रकृते निमित्तत्त्वमितिकेचिदाहु: विपरीतमित्यन्ये'। यह चिन्त्य है इसी के अनुसार शुद्धा द्वैतमार्तण्ड में कहा गया है सो भी अप्रामाणिक ही उसे भी समझना चाहिये आचार्य भासुरानन्द नाथ ने मिथ्या जगद्धिष्ठाना' इस नाम की व्याख्या करते हुये भेद मात्र को ही मिथ्या बताया है। काम कला विलास आदि दार्शनिक ग्रन्थों में शक्ति को उभय कारण ही माना है।

इस मत में तत्त्व विचार तीन कोटि में विभक्त हैं जिनको शुद्ध, शुद्धाशुद्ध तथा अशुद्ध कहते हैं शक्ति:साक्षान्महादेवी

महादेवस्तुशक्तिमान् । तयोर्विभूतिलेशो वै सर्वमेतच्चराचरम् । वस्तु:क्वचिद चिदरूपं किंचिद् वस्तु चिदात्मकम् । इदंशुद्धमशुद्धं च परं चापरमेव च । यत्संसरति चिच्चक्रमचिच्चक्रसमन्वितम् । तदेवाशुद्धमपरिमितरं तु परंशुभम् । अपरंचपरंचैव द्वयं चिदचिदात्मकम् । शिवस्यशिवायाश्चस्वाम्यं चैत स्वभावत: । यथाशिवस्तथादेवी यथादेवी तथाशिव: । नानयोरंतरं विद्याच्चन्द्र चन्द्रिकयोरिव । अर्थ—कोई वस्तु चेतन है तथा कोई अचेतन इन्हीं दोनों (जीव–जड़) को शुद्ध एवं अशुद्ध कहते हैं तथा पर एवं अपर भी इन्हीं की संज्ञा है । अचिद् चक्र के साथ चिद संसार को अनुभव कर रहा है इसे ही अशुद्ध कहते हैं । इनसे भिन्न शुद्ध है । चिद् अचिद इन तत्वों पर शिव एवं शिवा का ही अधिकार है जैसे शिव हैं वैसे ही शक्ति है इन दोनों की एकता चन्द्र और चन्द्रिका की तरह है । शिव, शक्ति सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्यातत्त्व शुद्ध कहे जाते हैं । माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति और पुरुष ये तत्त्व शुद्धा शुद्ध कहे जाते हैं शेष प्रकृति से लेकर चौबिस तत्त्व जिनका वर्णन सांख्य शास्त्र में किया गया है उसे अशुद्ध तत्त्व कहते हैं । सक्षेप रूप में इसे इस प्रकार कहते हैं । मायान्तमात्म तत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तंस्यात् । शक्तिशिवौशिवतत्त्वं तुरीय तत्त्वं समष्टिरेतेषाम् । सच्चिदानन्द ब्रह्म से आविर्भूत शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त ३६ तत्वों का स्वरूप इस प्रकार है । शिव शक्ति तत्त्व में आनन्द अंशपूर्ण रूप है सदा शिव तत्व से लेकर विद्या तत्त्व तक चिदंश अनावृत रूप से है माया से लेकर पृथिवी

पर्यन्त सदंश व्यक्त है। पर तत्व में सच्चिदानन्द तीनों समान रूप से व्यक्त हैं; आत्मा शब्द सत्ता का बताने वाला है, विद्या शब्द ज्ञान का शिव आनन्द का है। तत्व का लक्षण इस प्रकार का है—आप्रलयं यतिष्ठति सर्वेषां भोगदायिभूता नाम्। तत्तत्वमिति प्रोक्तं नशरीरघटादितत्वमतः। अर्थात् प्रलय पर्यन्त सभी भूतों को जो भोग प्रदान करता है उसे तत्त्व कहते हैं शरीर घटादि का नाम तत्त्व नहीं है संक्षेप में तत्वों का स्वरूप कहते हैं:—

शुद्ध तत्त्व वर्णन

जब सृष्टिक्रम प्रवृत्त होने लगता है तब पराशक्ति इच्छा रूप से ज्ञान और क्रिया इन दो शक्तियों को व्यक्त करती है। ज्ञान शक्ति अन्तरंग एवं क्रिया शक्ति बहिरंग है। इसी ज्ञान शक्ति में पर तत्व अभिमान करने से 'मैं सर्वज्ञ हूं' जब ऐसा समझता है तब उसे शिव कहते हैं। वहीं पर तत्व जब क्रिया में लीन होकर 'मैं सबका, कर्त्ता हूं' ऐसा व्यवहार करता है तब वह शक्ति तत्व कहलाता है। श्री नटनानन्द नाथ ने कहा है 'अत्रशिवशब्देन ज्ञानशक्तिरभिधीयते ज्ञानशक्तिअधिष्ठितत्वात् शिव तत्वस्य, शक्ति शब्देनापि क्रिया शक्तिरभिधीयते। क्रिया शब्द-यधिष्ठितत्त्वात् शक्तितत्त्वस्य चिदानन्द स्वरूपिण्या सर्वत्रज्ञानक्रियाभ्यामेव निर्माण प्रपञ्चदर्शनात्' (काम० वि०) इस शास्त्र में शिव शब्द से ज्ञान शक्ति तथा क्रिया पद से शक्ति तत्त्व लिया जाता है। क्योंकि शिव ज्ञान का अधिष्ठाता एवं क्रिया का अधिष्ठाता शक्ति पदार्थ हैं। चिदा

नन्द स्वरूपिणी शक्ति ज्ञान क्रिया द्वारा प्रपञ्च रचना करती है। शिव तथा शक्ति का भेद केवल व्यावहारिक है। वास्तव में दोनों का अभेद या अद्वैत ही सिद्धान्त है। इसे ही सामरस्य कहते हैं आचार्य शंकर ने कहा है 'अतः शेषः शेवीत्ययमुभय साधारण तया स्थितः सम्बन्धो वां समरस परानन्द परयोः' (सौ० ल० ३४) परतत्त्व शिवशक्ति उभयात्मक है देवी भागवत में कहा है 'सगुणानिर्गुणा चाहं समये शङ्करोत्तमा। सदाहंकारणं शम्भो न च कार्यं कदाचन । सगुणा कार्यत्वात् वैनिर्गुणा पुरुषान्तिके' (देवी भा. ३-६) 'शिवशक्ति रितिह्येकं तत्वमाहुर्मनीषिणः' शिवा भिन्ना पराशक्तिः सर्वकर्मशरीरिणी। न शिवेन विना देवी न देव्या चः बिना शिवः। इन शास्त्रीय प्रमाणों से शिवशक्ति का अभेद सिद्ध होता है और दोनों की तुल्यता ज्ञात होती है। कोई कोई वादी शक्ति तत्व को जगत का कारण नहीं मानते परन्तु शक्ति के बिना ब्रह्म कारणवाद भी असंगत है इसीलिये कहा है 'तत्त्वारूढ़ः सभगवान शिवः परम कारणम् शिवःसर्वस्यकर्त्तेयंशक्तिः कारणमुच्यते।' तत्त्वारुढ़भगवानशिव तथा भगवती शक्ति ही जगत के कर्त्ता तथा कारण हैं। सृष्टि के लिये उन्मुख दोनों तत्त्वों के आदि समागम को ही महा विन्दु कहते हैं। आनन्दात्मक लीला ही इसका हेतु है। विन्दु से नाद तत्त्व व्यक्त होता है तत्पश्चात्, परा पश्यन्ती, मध्यमा बैखरी रूप चार वाणी उत्पन्न होती हैं। 'एकोहबहुस्याम्' इस श्रुति में इसे ही 'एकोहं' इस पद से कहा गया है। कहा है 'आकारःसर्व वर्णात्र्यः प्रकाशः परमः शिवः । हकारोऽन्त्यः कला रूपः विमर्शाख्यः

प्रकीर्तितः' शिव को प्रकाश तथा विमर्श को शक्ति कहते हैं। समस्त वर्णों के आदि में अकार प्रकाश रूप शिव का वाचक है तथा अन्त में आये हुये हंकार शक्ति तत्त्व का बोधक है। इसी को 'अहम' यह पद बता रहा है इसी से इसे नाद या शब्द ब्रह्म कहते हैं। अकार एवं हकार का सामरस्य पर तत्त्व में है इसी 'अहम' से समस्त मातृ का चक्र व्यक्त होता है। जिन्हें वाच्य वाचक भाव का बोधक कहते हैं 'नादः सर्ववर्णोत्पति हेतुर्वणः' समस्त वर्णों की उत्पत्ति का हेतु नाद है। परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी इन चारों वाणियों की अधिष्ठात्री चार शक्तियां कही जाती हैं जिन्हें बामा, ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बिका कहते हैं, इनका लक्षण इस प्रकार किया जाता है'तत्र बामा नाम स्वान्तः स्थिति प्रवञ्चवमनाद विश्व जनयित्री ज्येष्ठा सर्व मङ्गल कारिणी, रौद्री सर्व रोग विद्राविणी, अम्बिका सर्वेष्ट प्रदाशक्तिः' परावाक अम्बिका, इच्छाज्ञान, क्रिया शक्ति क्रम से पश्यती मध्यमा और वैखरी रूप कही जाती हैं।

नादतत्त्व से श्वेत विन्दु (शिवात्मक) तथा रक्त विन्दु (शक्त्यात्मक) व्यक्त होते हैं। श्वेत विन्दु में रक्त बिन्दु एवं रक्त में श्वेत प्रविष्ट होकर कला की व्यक्ति स्फुट रूप से होती है। इस प्रकार नाद बिन्दु और मिश्र इन तीनों से यह स्थूल दृश्यमान जगत उत्पन्न होता है। कहा भी है। 'वागर्थौ नित्ययुतौ परस्परं शिवशक्ति मयावेतौ। सृष्टि स्थितिलयभेदौ त्रिधाविभक्ता त्रिवीज रूपेण' काम० वि-१२। शब्द अर्थ शिवशक्तिमय परस्पर नित्य सम्बन्ध वाले हैं। इन्हीं के द्वारा पूर्वोक्त क्रम से सृष्टि होती है। वर्णः, कला पदं तत्त्वं मन्त्रो

भुवनमेव च । इत्यध्वषट्कं देवेशिभातित्वयि चिदात्मनि' ये कपट् अध्व पद वाच्य शक्ति तत्त्व से ही प्रकाशित हैं। जिनमें वर्ण, पद और मन्त्र शब्दाध्व कहे जाते हैं। इन तीनों की उत्पत्ति नादत्तत्त्व से होती है शेष कला, तत्त्व और भुवन ये तीन अर्थाध्व कहे जाते हैं। शब्दाध्व में वर्णपद और मन्त्र हैं जिनके अनन्त भेद हैं । अर्थाध्व में कला, भुवन, तत्व हैं जिनमें कला पांच प्रकार की है जिन्हें १—शान्त्यतीता कला, २—शान्ति कला. ३—विद्या कला, ४—प्रतिष्ठा कला, ५—और निवृत्ति कला कहते हैं । षोडश कला के भेद और भी हैं । तत्व छत्तीस हैं जिनका वर्णन आगे क्रमशः करेंगे । भुवन की संख्या २२४ हैं जिनका सम्बन्ध तत्वों से ही है यही शाक्तमत में षडध्व कहे जाते हैं । इनकी उत्पत्ति शक्ति तत्व से होती है जिन्हें 'वगाथौं नित्ययुतौ' इस पद्य से कहा गया है। इस प्रकार शब्दमय तथा अर्थ मय इन द्विविध सृष्टियों का कारण शक्ति पदार्थ है। शक्ति तत्व इच्छा शक्ति की अन्तरंगभूत ज्ञानशक्ति में प्रविष्ट होकर जिस प्रकार जल में भिगाने से चना उच्छूनभाव फूलकर अंकुरायमान होता है वैसा ही प्रपञ्च को उद्देश्य कर के 'अहमिदम्' में यह प्रपञ्च हूं इस प्रकार अभिमानयुक्त हो जाता है वही सदाशिव या सदाख्य तत्व कहा जाता है। क्रिया शक्ति में प्रविष्ट होकर अंकुरित प्रपञ्च को 'अहमिदम्' रूप ईश्वर तत्व है। अहं पद वाच्य अहङ्कार और इदं पद वाच्य प्रपञ्च इन दोनों में रहने वाले अभेद ज्ञान से युक्त होकर शुद्ध विद्या तत्व कहाता है । यही शास्त्र तथा गुरु द्वारा प्राप्त होने पर मोक्ष का हेतु है; ये पांचों तत्व शुद्ध कहे जाते हैं।

शुद्धाशुद्ध तत्त्व

शुद्धाशुद्ध तत्त्वों में पहला तत्त्व माया है जो शुद्ध विद्या तत्त्व से परिणत होकर अपने में लीन भावि प्रपञ्च के निर्माण के कारण सूक्ष्म पदार्थों में अन्योन्याभाव रूप भेद बुद्धि प्रधानता से माया तत्त्व कहा जाता है 'माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु। नित्यंतस्य निरंकुश विभवं वेलेव वारिधेरुन्धे' (तत्त्वसन्दोह) जिस प्रकार वेलातट समुद्र द्वारा अवरुद्ध रहती है उसी प्रकार माया समस्त जीवों में भेद बुद्धि रूप रहती है। कला, विद्या, राग, काल और नियति ये पुरुष (जीव) के पांच कञ्चुक हैं इन्हीं पांचों आवरणों से पुरुष में सुख दुःख, बन्ध, अल्पज्ञत्व आदि भावों की प्रतीति होती है। माया मल से आवृत होकर पुरुष अपनी सर्वज्ञता पूर्णता नित्यता आदि को भूलकर सुखी दुःखी आदि जो मानने लगता है, उसका कारण किंचित् कर्तृत्वरूप शक्ति पहला कंचुक कला तत्त्व है। अपूर्ण किंचिजज्ञत्व रूप ही विद्या तत्त्व है। अपूर्ण रूप ही शक्ति जो विषयों में प्रीति रूप है उसे राग कहते हैं। शिव की सृष्टि प्रलय व्यवहार को व्यक्त करने वाली परिच्छेद क्रिया का सम्पादन करने वाली शक्ति काल है। अवश आत्मा को कृत्याकृत्य में नियम पूर्वक जो शक्ति नियमन करती है उसे नियति कहते हैं जैसे अग्नि से अनेक चिनगारियां उत्पन्न होकर पृथक प्रतीत होती हैं ऐसे ही परतत्त्व से इच्छा शक्ति के योग से आविर्भूत होने वाला तत्त्व पुरुष कहलाता है। जो परा

शक्ति (शिव) का अंशरूप है। आणव, कार्मण आदि मलों से आवृता होने के कारण संसारी कहा जाता है। इसका परिमाण अणु है कई ग्रन्थों में आभास या प्रतिबिम्ब माना गया है देवी गीता में कहा है 'अविद्यायांतुयर्तांकिंचिद् प्रतिबिम्बंनगाधिप। तदेवजीवसंज्ञः स्यात् सर्वदुःखसमाश्रयः' (दे०-भा०-स्क-७अ०-३१ ४५) शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का यह संक्षिप्त विवरण है। जीवाणवाद और आभास का प्रतिबिम्ब के स्वीकार से ज्ञात होता है कि शाक्त मत में परिणाम एवं विवर्त दोनों माने जाते हैं।

अशुद्ध तत्त्व वर्णन

कार्योन्मुख गर्भित इच्छा शक्ति एवं ज्ञान शक्ति तथा क्रिया में रहने वाला भेद जैसे ज्ञान क्रिया नहीं तथा क्रिया ज्ञान नहीं इस प्रकार वाले मायातत्त्व से स्फुरित होने वाले तथा सत्त्व, रज, तमः इन गुणों की साम्यावस्था वाले तत्त्व को प्रकृति तत्त्व कहते हैं। जो महत्तत्त्व बुद्धि अहंकार आदि तेइस तत्त्वों का जनक है। यह ऐसा ही है इस निश्चयात्मक ज्ञान को महत् या बुद्धि कहते हैं। अहंकार ममकार के कारण को अहंकार कहते हैं। इन तीनों तत्त्वों को अन्तःकरण भी कहते हैं। अन्तःकरण रूप से परिणत शक्ति तत्त्व श्रवण ज्ञान का कारण होने से श्रोत्र कहलाता है। स्पर्श का ज्ञान करने से त्वक्तत्त्व, तथा रूप का ज्ञान कराने से नेत्र तत्व है। इन्हें पंचज्ञानेन्द्रिय भी कहते हैं ज्ञानेन्द्रिय रूप से परिणत शक्ति तत्त्व उच्चारण क्रिया का साधन

होने से वाक् तत्व कहलाता है। मलत्याग का साधन पायु तत्व एवं मूत्र, रेत के विसर्ग का साधन उपस्थ तत्व कहलाता है। इन्हें कर्मेन्द्रिय भी कहते हैं। ये तेरह तत्व इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति प्रधान हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों के क्रम से ग्राह्य शब्दतत्त्व स्पर्शतत्त्व, रूपतत्त्व, रसतत्त्व तथा गन्धतत्त्व पंचतन्मात्रा कहे जाते हैं। इनका विशेष विवरण सांख्य दर्शन में किया गया है। शक्ति तत्त्व इन पंच तन्मात्राओं द्वारा स्थूल पंचमहाभूत रूप से परिणत होकर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी रूप धारण करके यह दृश्यमान स्थूल प्रपंच रूप से प्रतीत हो रहा है। यह अशुद्ध तत्त्वों का विवरण है। जगत् की उत्पत्ति स्थिति, लय, तिरोधान और अनुग्रह ये पाँचों कृत्य जगन्निष्ठ हैं और लीला परमेश्वर में है। जैसे योगी इच्छा मात्र से ही बिना उपादान (सामग्री) के ही वस्तुओं को बनाता है, ऐसे ही इच्छा मात्र से परतत्त्व जगत को बनाता है सिवाय लीला के अन्य किसी प्रयोजन की उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' यह ब्रह्म सूत्र भी प्रमाण है। प्रत्यभिज्ञा हृदय में कहा है 'स्वेच्छयास्व-भित्तौ विश्वमुन्मीलयति तथा स्वेच्छयैव जगत् सर्वं निगरत्युद्-गिरत्यपि' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा शैवों के ही सदृश शाक्त दर्शन भी तत्त्व निरूपण करता है इसीलिये ये दोनों मत अभिन्न रूप से हैं। पृथ्वी तत्त्व से आरम्भ होकर उत्पत्ति से विपरीत लयक्रम होता है। विमर्श तत्त्व में लय होकर अहम् तथा इदम्' की कारणवस्था में विश्व रह जाता है अन्त में विश्व भी विमर्श रूप के विलय होने

पर अहम् में लय होकर अद्वैत हो जाता है। इसे ही वेदान्त में 'अहंब्रह्मास्मि' नाम से कहते हैं। यही महा वाक्य शिव शक्ति सामरस्य का बोधक परम प्रमाण है। जीव तत्त्व भी ब्रह्म का ही रूपान्तर है। इसी की एकता इस वाक्य से गृहीत होकर अद्वैत होता है इसे शाक्ताद्वैत कहते हैं। द्वैतावस्था में कर्म उपासना तथा अद्वैतावस्था में ज्ञान का निर्वाह होने से समस्त वैदिक सिद्धान्तों का अभिप्राय समन्वित होने से समन्वय हो जाता है। इस मत में जगत सत्य है परन्तु देवी गीता में मिथ्या भी कहा है।

शाक्त साधना

अनादि काल से जीव अविद्या में पड़ा हुआ है अपने असली स्वरूप का ज्ञान न होने से तथा अपने स्वरूप शिवत्व का ज्ञान न होने से जन्म मरण में घूम रहा है। सच्चिदानन्द रूपिणी परा शक्ति का आश्रय लेकर ही अविद्या की परिधि से उन्मुक्त हो सकता हैं क्योंकि शक्ति से ही यह कार्य सम्भव है। विद्या से ही अविद्या की निवृत्ति होती है साधकों पर अनुग्रहार्थ विद्या रूप से वह परा शक्ति अनेक प्रकार से अभिव्यक्त होती है उसे ही काली, तारा, सरस्वती, त्रिपुरा आदि रूप से साधक समुदाय चिन्तन करता है। सद्गुरु की कृपा द्वारा परा शक्ति के मन्त्रात्मक रूप का उपदेश प्राप्त कर दीक्षातत्त्व के साथ श्री गुरु का अनुग्रह रूप आधार प्राप्त कर शुद्ध तत्त्व का अनुसधान करके अपशुत्व प्राप्त होता है। कहा है 'शुद्ध तत्त्व सन्धानाद्वापशुशक्तिः' शिव सूत्र १६ तथा 'गुरु,

रुपाय:' मन्त्र का पुरश्चरण, द्वारा देवता का साक्षात्कार ध्यान आदि द्वारा अभ्यास की दृढ़ता का अनुभव करते हुये 'शिवोहम्' का अनुभव प्राप्त करना तथा हठ योग की साधना की सहायता से कुण्डलिनी का जागरण करना ही इस साधना का मुख्योद्देश्य है विशेष यह लिखने का विषय नहीं है यह रहस्यात्मक विषय है इसे श्री गुरु सामीप्य में ही जाना जा सकता है ।। इति ।।

व्याकरण दर्शन-१५

शब्द तत्त्व के ज्ञान द्वारा निःश्रेयस की प्राप्ति व्याकरण शास्त्र का परम प्रयोजन है। प्रकृति प्रत्यय के विभाग ज्ञान द्वारा शब्द का प्रयोग समस्त अभीष्ट का देने वाला है। कहा है 'एक:शब्द: सम्यग्ज्ञात: सुष्ठुप्रयुक्त: स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति' एक शब्द सम्यग् ज्ञान पूर्वक अच्छी तरह प्रयुक्त होने से इस लोक तथा परलोक में सभी कामनाओं का देने वाला है। शुद्ध शब्द का ज्ञान तथा प्रयोग धर्म का जनक है। अशुद्ध अपभ्रंश का प्रयोग अधर्म का हेतु है। इसलिए कहा है 'नापभाषितवै नापम्लेच्छितवै' यद्यपि अपभ्रंश अशुद्ध शब्दों से भी अर्थज्ञान होता है और लोक में उनसे व्यवहार भी होता है तथापि व्याकरण शास्त्र से जो शब्द विषयक निर्णय होता है वही धर्म का जनक है। यह महाभाष्य प्रथम आह्निक में ही भाष्यकार ने प्रतिपादन किया है। इस पर कोई कोई आशंका करते हैं कि शब्द जब जड़ है तब वह कैसे समस्त फल का दाता हो सकता है? क्योंकि दातृत्व शक्ति चेतन

के आश्रित रहती है इसका उत्तर श्रुति इस प्रकार देती है चत्वारि-श्रृङ्गात्रयो अस्यपादा द्वेशोर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधाबद्धोवृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां म् आविवेश, अर्थ–नाम. अख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार जिसके सींग हैं, भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन पांव हैं नित्य, अनित्य भेद से दो जिसके मस्तक है सात कारक कर्त्ता कर्म आदि जिसके हाथ हैं उरस, कण्ठ और सिर ये तीन स्थानों में जो बँधा है, वृषभरूप वह है क्योंकि ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान से समस्त फलों का दाता होने से वृषभ है, सबसे महान देव ब्रह्म ही मरण धर्म वाले मनुष्यों में प्रवेश किया है। इस विचित्र रूपक से शब्द ब्रह्म को परब्रह्म का ही रूपान्तर बताया गया है अतः जडत्व की आशङ्का अनुचित है भगवान् पतञ्जलि ने इससे यही अर्थ ग्रहण किया है ।

स्फोटवाद

जिससे अर्थ स्फुट प्रकाशित हो उसे स्फोट कहते हैं वही वाधक कहा जाता है । वर्ण, पद, वाक्य भेद से स्फोट तीन प्रकार का है जाति व्यक्ति भेद से वही छः प्रकार का हो जाता है और अखंड पद स्फोट, अखण्ड वाक्य स्फोट के से भेद स्फोट के आठ भेद हैं इनमें वाक्य स्फोट ही मुख्य है क्योंकि अर्थ वोधकता उसी में है। वर्ण से भिन्न तथा पद से भी वह भिन्न ही है। जगत का कारण होने से वह नित्य निरवयव ब्रह्म स्वरूप है ऐसा भर्तृ हरि ने कहा है 'अनादिनिधनंब्रह्मशब्दतत्त्वंतदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन

प्रक्रिया यगतोयतः। (वा० प० १-१) आदि अन्त रहित शब्द ब्रह्म तत्त्व अक्षर स्वरूप, अर्थ रूप से विवर्तित हो रहा है उसी से उत्पत्ति स्थिति लय आदि व्यवहार हो रहे हैं 'एकः शब्दः सम्यग-ज्ञातः' इस वचन में इसे ही ग्रहण किया है : कोई कोई वैयाकरण-वर्णों को ही शब्द मानते हैं परन्तु यह पक्ष युक्तियुक्त नहीं है केवल वर्णों से कोई अर्थ प्रकट नहीं होता पदार्थ की प्रतीति क्रम से उच्चारित वाक्य से ही होती है वही स्फोट पद वाच्य है 'स्फोटयते व्यज्यते वर्णैरितिस्फोटः' वर्णो से जो व्यक्त होता है उसे ही स्फोट कहते हैं, ऐसा ही अर्थ महा-भाष्यकार ने लिया है 'अथगौरित्यत्रकः शब्दो येनोच्चारितेन सास्ना लाङ्गलककुदखुर विषाणानां सम्प्रत्योभवति स शब्दः' कैय्यट ने इसका अभिप्राय ऐसा लगाया है, वैयाकरण वर्णों से भिन्न पद की वाचकता मानते हैं यदि वर्णों को वाचक माने तो द्वितीयादि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ होगा तथा निश्चित अर्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये वर्णों से भिन्न नाद से व्यङ्ग्य ही शब्द है ऐसा वाक्यपदीय में माना गया है नाद नाम वर्ण का है—इस पर वर्ण वाद की ओर से ऐसा कहा जाता है—जो दोष स्फोटवादी वर्ण वादी पर देते हैं वे दोष स्फोट पक्ष पर भी लागू हैं। यह प्रश्न भी यों होता है कि स्फोट अव्यक्त होकर अर्थ बोध करता है या व्यक्त होकर ? यदि अव्यक्त माने तो सर्वदा अर्थ की प्रतीति होनी चाहिये परन्तु ऐसा नहीं है यदि व्यक्त पक्ष मानें तो वर्ण मिल कर अर्थ जनाते हैं ? या अलग अलग ये दोनों पक्ष नहीं हो सकते

क्योंकि क्रम भेद के बिना अर्थ प्रतीति नहीं हो सकती अन्यथा सर, रस, नदी, दीन इन शब्दों में अर्थ भेद तालाब, रस, नदी गरीब आदि अर्थों का बोध नहीं हो सकेगा इसलिए स्फोट पक्ष अनुपयुक्त है एकाक्षरी कोशों से वर्णों का स्वाभाविक अर्थ भी होता है यदि वर्ण व्यर्थ हों तो उनका समुदाय भी सार्थक नहीं हो सकता। स्फोटवाद की ओर से ऐसा प्रश्न होता है कि वर्णमात्र पद ज्ञान कराते हैं या वर्ण समुदाय? उत्पन्न ध्वस्त वर्ण परस्पर अन्वित, न होकर अर्थ नहीं जना सकते और पृथक् पृथक् बर्ण से कोई अर्थ नहीं ज्ञात होता यदि ऐसा हो तो अर्थ ज्ञान की अव्यवस्था होगी वर्ण केवल तथा समुदाय रूप से भी अर्थ ज्ञान कराने में अनुपयोगी है अतः स्फोट को ही मानना व्याकरण के प्रधानाचार्यों ने ठीक समझा हैं। जैसे स्वाध्याय क्रमशः अभ्यास से परिपक्व होता है इसी प्रकार स्फोट भी अभ्यास दृढ़ होने से स्फुट अर्थ बोध कराता है—कहा भी है—नादैराहितवीजायामन्त्येन ध्वनिनासह। आवृत्तिपरिपाका यां बुद्धौ शब्दोवधार्यते' (वा० प० १-८५) इस प्रकार के व्यवहार से वर्ण की बाचकता असम्भव होने से निरवयव अर्थबोधक शब्द तत्त्व स्फोट रूप है ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

शब्द की वाचकता

सत्ता जाति सब शब्दों का वाचक है जिसे वैशेषिक शास्त्र में द्रव्य गुण और कर्म वृत्ति कहा गया है वाक्यपदीय में भी कहा है

'सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमानागवादिषु । जातिरित्युच्यतेतस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः । तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते । सानित्यासामहानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः'। आश्रय भूत सम्बन्धि गौ आदि शब्दों में सत्ता ही जाति है जो कल्पित भेद से भिन्न भिन्न प्रतीत हो रही है। अपर सत्ता भी परसत्ता से भिन्न नहीं है प्राति पदिकार्थ (शब्द का अर्थ) संज्ञा है भाववचन धातु है, भावःसत्ता इस मत से धातु का अर्थ भी सत्ता है क्रिया वचन धातु है इस पक्ष में जातिमन्येक्रिया माहुरनेक व्यक्ति वर्तिनीम्' धातु का अर्थ जाति ही है 'तस्यभावस्त्वतलौ' पा० सू० ५-१-११९।

इस सूत्र में भावार्थ में त्व, तल प्रत्ययों का विधान होने से सत्ता वाचित्व युक्त ही है। सत्ता उत्पत्ति विनाश रहित नित्य है सारा प्रपंच सत्ता उत्पत्ति विनाश रहित नित्य है सारा प्रपंच सत्ता का विवर्त है तात्त्विकोऽन्यथा भावो विवर्तः' स्वरूप से च्युत न होकर अन्यथा कार प्रतीति विवर्त कहलाता है। सत्ता ही महान् आत्मा कही जाती है। पदार्थ द्रव्य है ऐसा मानने वालों के मत में शब्द द्रव्य है। 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' इस वार्तिक की व्याख्या करते हुये द्रव्य नित्य है इत्यादि ग्रन्थ से असत्य उपाधि अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व द्रव्य शब्द वाच्य ही सर्वशब्दार्थ है' ऐसा भाष्य-कार ने निरूपण किया है। जाति ही शब्दार्थ है इस मत में गौ आदि शब्द भिन्न द्रव्य से सम्बद्ध जाति से सम्बन्ध रखते हैं। उसके सम्बन्ध से द्रव्य की प्रतीति होती है। शुक्ल आदि शब्द गुण समवेत जाति को बताते हैं क्रिया में भी जाति है

'पचति' आदि क्रिया में उसका अन्वय देखा जाता है व्यक्ति जाति पक्ष में जाति की प्रतीति उपलक्षण रूप से है यह व्याडि आचार्य का मत है। पाणिनि के मत से दोनों पक्ष प्रामाणिक हैं जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' पा० सू० १-२-५८ में जाति पक्ष माना गया है तथा द्रव्य पक्ष को बताने वाला सूत्र 'स्वरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ पा०सू० १-२-६४ है इन दोनों मतों को सभी वैयाकरण मानते हैं। इसलिए अद्वैत, सत्य, पर ब्रह्मतत्त्व ही सर्व शब्दार्थ है। यह मत ही परम सिद्धान्त है कहा भी है 'तस्माच्छक्तिविभागेन सत्यः सर्वः सदात्मकः। एकोऽर्थः शब्दवाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते 'अनेक शक्ति विभाग वाला एकार्थ रूप शब्द सत्य स्वरूप वाला होता हुआ वाच्यत्व में अनेक रूप से प्रतीत होता है। भर्तृहरि ने कहा है 'यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनमविकल्पित तम्। तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुत्रय्यन्त वेदिनः' जहां पर द्रष्टा दृश्य दर्शन अविकल्प भाव से रहते हैं उसे ही वेदान्ती सत्य कहते हैं विकारापगमें सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा। विकारापगमो यत्र तामाहुः प्रकृति पराम्' जैसे विकार के निवृत्त होनेपर कुण्डल में सोना सत्य रूप से भासित होता है ऐसे ही विकार के निवृत्त होने पर परा-प्रकृति ही केवल सत्य रूप से प्रतीति होती है 'वाच्यासासर्वं शब्दानां शब्दाच्चन पृथक्ततः। अदृक्त्वेऽपिसम्बन्धस्तथार्जीवात्मनोरिव' वाच्यवाचक का सम्बन्ध अभिन्न है अभेद रहने पर भी सम्बन्ध होता है। जैसा जीवात्मा परमात्मा का सम्बन्ध मञ्जूषा में भेदा-भेद माना है। वेदान्त सिद्धान्त एवं वैयाकरण मत अद्वैती है

शङ्करभगवत्पाद के मत से मिलता जुलता है । तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् । पवित्रंसर्वेविद्यानामधिविद्यं प्रचक्षते' वा०प० १-१४ मोक्ष का द्वार वाणी के मलका विनाशक सर्व-विद्याओं में पवित्र यह शब्दशास्त्र है 'इयं हि मोक्षमाणानामजिह्वा राजपद्धतिः वा० पा० १-१६ यह व्याकरण शास्त्र मुक्ति के लिये सीधा राजमार्ग है । पाणिनीय शास्त्र ही व्याकरण मत में उक्त सिद्धान्त का पर्ण समर्थक है तथा वेदाङ्ग है अन्य व्याकरण केवल लौकिक एवं एक देशी हैं इसलिये इसी का अध्ययन उक्त फल का देने वाला है इसीं से शब्द ब्रह्म का परिचय होता है ॥ शब्द ब्रह्म में निष्णात ही परब्रह्म को प्राप्त करता है ऐसा श्रौत मत है ।

मीमांसा दर्शन–१२

मीमांसक मत में तत्त्व का विचार स्वतन्त्र रूप से नहीं किया जाता इस मत में वैदिक कर्म काण्ड के स्वरूप का निर्णय और उपयोग ही प्रधान हैं । वेद के भेद विधिमन्त्र अर्थवाद आदि का विचार एवं उपयोग ही इस दर्शन के विचारणीय विषय हैं कल्प सूत्रों में यज्ञों के करने की पद्धतियां बताई गयी हैं । यज्ञ के अनुष्ठान दारा स्वर्ग सुख प्राप्त करना इस दर्शन का परमपुरुषार्थ है जिसे कहा है 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं व च ग्रस्तमनन्तरम् । अभि-लाषोपनीतं च, तत्सुखं स्वः पदास्पदम्' जो दुःख से मिला हुआ न हो बाद में दुःख से ग्रस्त भी न हो तथा मनोभिलषित भोग जहाँ प्राप्त हों उसे ही स्वर्ग कहते हैं । स्वर्ग धर्म से प्राप्त होता है, वेद

बोधित इष्ट साधनता जिसमें हो उसे ही धर्म कहते हैं। ऐसे यागादि हैं। वेद बोधित अनिष्ट साधनता जिसमें हो उसे अधर्म कहते हैं जैसे कलज भक्षण (विषैले वाण से मारा हुआ मांस भक्षण) धर्म अधर्म के विषय में वेद का ही प्रमाण मुख्य है उसी के अनुसार स्मृति और शिष्टाचार भी प्रमाण होते हैं मीमांसा दर्शन के प्रथमाध्याय के प्रथम, द्वितीय और तृतीय पादों में इसका निर्णय किया गया है। मनु ने भी कहा है 'वेदःस्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुःसाक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।' वेद दो भागों में विभक्त है मन्त्र तथा ब्राह्मण। जिसमें प्रयोग कालीन अर्थ स्मरण के हेतुत्त्व रूप से मन्त्रों का उपयोग होता है। विधायक वाक्य को ब्राह्मण कहते हैं. ब्राह्मण का अङ्ग अर्थवाद कहा जाता है जो विधि का प्रशंसक होकर एक वाक्यता को प्राप्त कर प्रमाणित होता है विधिनात्वेक वाक्य त्वात् स्तुत्यर्थेनविधीनांस्युः' मी० सू० १-२-७ इस सूत्र द्वारा कहा गया है।

विधायक वाक्यों के भेद

विधायक वाक्य पाँच प्रकार के हैं कर्मोत्पत्तिवाक्य, गुण वाक्य, फल वाक्य फल के लिए गुण वाक्य और सगुण कर्मोत्पत्ति वाक्य। जिस वाक्य से कर्म की कर्त्तव्यता का बोध हो उसे कर्मोत्पत्ति वाक्य कहते है जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से अग्निहोत्र रूप कर्म का विधान होता है १–विहित कर्म में उसके अङ्ग रूप से द्रव्य या देवता का विधान

जिससे हो उसे गुण वाक्य कहते हैं जैसे दध्नाजुहुयात्' होम रूप कर्म का विधान पूर्व वाक्य से होते हुये भी इससे दधिमात्र का विधान गुणमात्र का बोधक है। इस वाक्य में अनुवादत्त्व और गुणत्व दोनों हैं क्योंकि दधि का विधान गुण तथा पूर्व सिद्ध कर्म का अनुवाद रूप विधान सम्मिलित है। २। प्राप्त कर्म के फल की आकाञ्छा के प्रसङ्ग में फल सम्बन्ध का बोधक वाक्य फल विधि कहलाता है जैसे अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्ग की इच्छा वाले को अग्निहोत्र रूप कर्म करना चाहिये, इस वाक्य से फल स्वर्ग का सम्बन्ध अग्निहोत्र से कहा गया है। ३। प्राप्त कर्म के अधीन फल के लिये गुण विधि में फल के लिये गुण वाक्य की उपयोगिता मानी जाती है, अग्निहोत्र वाक्य से होम रूप कर्म की प्राप्ति रहते इन्द्रियरूप फल के लिए दधिरूप गुण का विधान जैसे 'दध्ना इन्द्रिय कामस्यजुहुयात्' इस श्रुति में किया गया है इसे फल के लिये गुण वाक्य कहते हैं इसे गुण कर्म विधि भी कहते हैं।४। द्रव्य, देवता आदि गुण विशिष्ट कर्म के विधान करने वाले वाक्य को सगुण कर्मोत्पत्ति वाक्य कहते हैं जैसे 'सोमेनयजेत्' इस श्रुति से सोमलता विशिष्ट याग का विधान किया गया है।५। यह पंच-विधि वाक्यों का संक्षेप है, प्रधान के साथ गौण विधियों की एक वाक्यता होकर प्रयोग विधि होती है। विधायक वाक्यों से तीन और भी भेद हैं जिन्हें, अपूर्व विधि, नियम और परिसंख्या कहते हैं अत्यन्त अप्राप्त अर्थ की बोधकता जिससे हो उसे अपूर्व विधि कहते हैं जैसे दर्श पौर्णमास प्रकरण में 'व्रीहीन्प्रोक्षति' इस

वाक्य के अभाव में अन्य और किसी वाक्य से प्रोक्षण नहीं प्राप्त है इसी विधि से प्रोक्षण प्राप्त है अतः अप्राप्त अर्थ की प्रापकता होने से यह अपूर्व विधि है ।१। जो विधि पक्ष में प्राप्त अर्थ का नियमन करती है उसे नियम विधि कहते हैं जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य से दर्श पौर्णमास प्रकरण में धान की (तुष) भूसी का विदलन नख या अन्य किसी साधन द्वारा किया जा सकता है ऐसा प्राप्त होने पर अवहनन का अभाव प्राप्त हुआ इसलिये अदृष्ठार्थ पूर्व वाक्य ने नियम किया कि धान को अवहनन द्वारा ही वैतुष्य करना चाहिए इसलिये यह नियम विधि हुई ।२। दो वस्तु के समुच्चय प्राप्ति पर एक की निवृत्ति जिससे हो उसे परिसंख्या कहते हैं, जैसे चयन प्रकरण में 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमदत्ते' इस मन्त्र से अश्वरसना ग्रहण करनी इष्ट है गर्दभ रसना नहीं यदि यह मन्त्र रूप विधि न हो तो दोनों की प्राप्ति हो सकती है। गर्दभरसना की निवृत्ति करके अश्वरशना का (रस्सी) ग्रहण कराने से यह वाक्य परिसंख्या विधि का है ।३।

कर्म के भेद

इन उक्त विधि वाक्यों से जो कर्म बताये जाते हैं वे दो तरह के होते हैं जिन्हें अर्थ कर्म और गुण कर्म कहते हैं । आत्मगत अपूर्व जनक अर्थ कर्म कहाते हैं जैसे दर्श पौर्णमास प्रयाज आदि और द्रव्यगत अपूर्व जनकता गुण कर्म को है अर्थात् अर्थ कर्म में द्रव्य की अपेक्षा कर्म की प्रधानता है और गुण कर्म में

द्रव्य की। कोई गुण कर्म उपयुक्त संस्कारक और उपयोक्ष्य मात्र संस्कारक होते हैं इसके चार भेद हैं जिन्हें उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति कहते हैं इनका विस्तार भय से निरूपण नहीं करते हैं। अर्थ कर्म तीन प्रकार के हैं–जिन्हें नित्य, नैमित्तिक और काम्य कहते हैं 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' सायं जुहोति' प्रातर्जुहोति' इन बचनों से जीवित पुरुष को नित्य अग्निहोत्र रूप कर्म का विधान अवगत होने से इन्हें नित्य कर्म कहते हैं। 'अग्न-येपथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्' इस श्रुति से दर्श पौर्ण मासातिपत्ति निमित्तक पथिकृत् इष्टि नैमित्तिक कर्म हैं। स्नान सन्ध्यादि नित्य एवं पार्वणश्राद्धकर्मादिनैमित्तिक कहे जाते हैं। नित्यनैमित्तिक कर्मों के न करने से प्रत्यवाय तथा करने से कोई फल नहीं यह कोई कोई आचार्य मानते हैं। कोई पाप की निवृत्ति रूप फल स्वीकार करते हैं कहा भी है 'नित्यनैमित्तिकैरेवं कुर्वाणो दुरितक्षयम्। ज्ञानेन विमली कुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्' फल कामना पूर्वक इनका अनुष्ठान न होने से इन्हें काम्य नहीं कह सकते। काम्य कर्म तीन प्रकार के हैं, केवल ऐहिक, पारलौकिक तथा लौकिक पारलौकिक उभय रूप। १–केवल ऐहिक कर्म कारीरी आदि याग हैं क्योंकि तत्तत् समय में सूखते हुये धान्यों के लिए वृष्टि के लिए किए जाते हैं, कालान्तर भावि वृष्टि की इच्छा वाला या जन्मान्तरीय वृष्टि काम पुरुष नहीं कर सकता २–केवल पारलौकिक कर्म दर्श पौर्णमास हैं जिनका उपयोग इस लोक में न होकर स्वर्ग में ही होता है ३–ऐहिक, पारलौकिक दोनों

के उपयोगी कर्म 'वायव्यंश्वेतमालभेतभूतिकामः' इत्यादि वचनों से ज्ञात होते हैं, क्योंकि विभूति (ऐश्वर्य) का विस्तार उभय लोक साधारण है। इन कर्मों की अङ्गता के बोधकं षडविध वाक्य मीमांसा में माने जाते हैं जिनकी संगति इस प्रकार की जाती है।

षड्विध वाक्यों की संगति

मीमांसा दर्शन में षड्विध वाक्यों की संगति का क्रम इस प्रकार है श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानां समवाये पारदौर्वल्यमर्थ विप्रकर्षात्' मी–३,३,१४ इस सूत्र की व्याख्या इस निम्नलिखित कारिका से स्पष्ट होती है श्रुतिर्द्वितीयाक्षमता च लिंगं वाक्यं पदान्येवतु संहितानि। 'यासा प्रक्रिया कंथमित्य॰ पेक्षा स्थानं क्रमोयोगबलं समाख्या' द्वितीया आदि विभक्तियां प्रकृत अर्थ के बोधन में अन्य अपेक्षा रहित होकर स्वार्थ बोधन करती हैं जैसे 'व्रीहीन ब्रहन्ति, बीहिभिर्यजेत' इत्यादि बचनों में अवघात और व्रीहिका उपयोग श्रुति से ही ज्ञात होता है। इसी लिए भाष्यकार ने कहा है 'यदर्थस्याघिधानं शब्दस्य श्रवणमात्रा दवगम्यते सश्रुत्यावगम्यते' (शबरभाष्य) जिस अर्थ का ज्ञान शब्द के श्रवणमात्र से हो वह श्रुति से जाना जाता है।२। क्षमता अर्थप्रकाशन सामर्थ्य को कहते हैं जैसे 'बर्हिव सदनं दामि' इस मन्त्र के विनियोग का ज्ञान न होने से 'दामि' इस लिंग से कुश छेदन में विनियोग होता है।३। पदान्येवसंहितानि' से वाक्यार्थ का वोध होता है, जिसमें पदपरस्पर अन्वित होकर वाक्यार्थ को बताते

हैं जैसे 'अरुणया एक हायन्या गवासोमं क्रीणाति' अरुण आदि गुण विशिष्ट गौका सोमक्रयण में विनियोग है ।४। याकथमित्यपेक्षा-इससे प्रक्रिया या प्रकरण को लिया जाता है जैसे 'दर्श पौर्णमा, साभ्यांय जेत' इस प्रधान विधिबोधित कार्य में कैसे करना चाहिए इस जिज्ञासा के उपस्थित होने पर' समिधोय जति, तनून पात-यंजति, बर्हिर्यजति इत्यादि श्रुतिबोधित कर्मों को उपकारिता प्रकरण से बोधित होती है ।५। स्थान को क्रम कहते हैं अर्थात् समानदेशत्व भी कहते हैं जैसे आध्वयवकाण्ड में आग्नेय, उपांशु, अग्नीषोमीय कर्म क्रम से पढ़े गये हैं वहां स्थान बल से उनके मन्त्र भी क्रम से कहे गये हैं स्थान बल से मध्य पठित उपांशु याग का मध्यपठित मन्त्र गृहीत होता है ।६। परस्पर अन्वितार्थ जब अवयवार्थ की प्रतिपादकता से युक्त होते हैं तब उसे समाख्या कहते हैं जैसे आध्वर्यावकर्म, औद्गात्र कर्म आदि का सम्बन्ध होता एवं उद्गाता से होता है। प्रकृति प्रत्यय से यही अर्थ प्राप्त होता है। एकत्र इन वाक्यों की प्राप्ति होने पर पूर्व २ की अपेक्षा से उत्तर २ में कहे हुये बचनों की दुर्बलता मानी जाती है। जैसे श्रुति से लिग, लिग से वाक्य, वाक्य से प्रकरण, प्रकरण से स्थान स्थान से समाख्या दुर्बल माने जाते हैं इस नियम से बलाबल का निश्चय कर संगति लगाने की मीमांसक रीति उपादेय है।

अर्थवाद और मन्त्र

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानांतस्मादनित्यमुच्यते' मी० १-२-१ इस सूत्र से विधि वाक्यों को ही वेद रूप से प्रमाणत्व

माना गया है क्योंकि क्रिया की बोधकता उन्हीं में है इस तरह अर्थवादादि व्यर्थ होते हैं परन्तु विधि की प्रशंसा करते हुये उनकी भी सार्थकता है ऐसी 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्' सूत्र द्वारा बताई गई है इसी प्रकार मन्त्र भी क्रिया बोधक वाक्य के अङ्ग हैं। अर्थवाद चार प्रकार के होते हैं। निन्दा, स्तुति परिकृति और पुराकल्प। निन्दात्मक अर्थवाद का उदाहरण इस प्रकार का है जैसे 'बर्हिषिरजतंनदेयम्' बर्हिष्याग में चांदी की दक्षिणा निन्दित है क्योंकि 'सोरोदीत्तदरोदीत्तदरुद्रस्यरुद्रत्वं यदश्वशीयतदरजत हिरण्यमभवत्तस्माद्रजतंहिरण्यमदक्षिणम्' अर्थात् रुद्र के रुदन के अश्रुपात से रजत की उत्पत्ति होने से रजत दक्षिणा निन्दित है जो कोई यजमान ऐसा करेगा उसके घर में रुदन रूप अनिष्ट होगा। यह निन्दात्मक अर्थवाद है जो 'बर्हिषि रजतंन देयम्' के साथ अन्वित होता है। २–प्रशंसात्मक अर्थवाद उसे कहते हैं जैसे 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' वायु अत्यन्त तीव्र गति वाला देवता है अर्थात् यजमान के अभीष्ट को शीघ्र ही प्रदान करता है 'वायव्यं श्वेतमालभेतपशुकामः इस विधि से अन्वित होकर सार्थक होता है। ३–'अग्निर्वाअकामयत' इत्यादि बचन पर कृति अर्थवाद कहे जाते हैं। आग्नेय याग को सबसे पहले अग्नि ने किया था अतः यह प्रशस्त है इसलिए अन्य लोगों को भी करना चाहिये। पुराकल्प अर्थवाद ऐसा है जैसे 'स आत्मनोवणमुद खिदत्तामग्नौ प्राग्टह्लाद्दात्ततोऽजस्तूवरस्समभवत्तं स्त्रायै देवतायैआलभत' प्रजापति ने अपनी वपा का छेदन करके यज्ञ किया वही फिर यज्ञ कुण्ड से तूवर पशु छाग विशेष

होकर निकले अर्थात् यज्ञ ऐसी वस्तु है कि जिसे अपना अङ्ग छेदन करके भी करना चाहिए जैसा कि प्रजापति ने किया इसके लिये अन्य धनादि के त्याग के लिये तो कहना ही क्या है इस वाक्य से असदर्थ का अवलम्बन लेकर विधेय की स्तुति की गई। इस प्रकार अर्थवाद विधि वाक्यों के अंग होकर चरितार्थ होते हैं स्वतन्त्र रूप से उनका प्रामाण्य नहीं है:—

मन्त्रों द्वारा अर्थ का स्मरण करके अनुष्ठान की सम्भावना होती है यह नियम है, इसके अभाव में अदृष्ट की उत्पत्ति न होने से कर्म में वैगुण्य उत्पन्न होता है। चयन प्रकरण में मौन भाव से अश्वरशना का ग्रहण होने से ही अदृष्ट फल की सिद्धि होती है गर्दभरशना से नहीं 'इमामगृभ्णन्' इत्यादि मन्त्र परिसंख्या से उक्त अर्थ का समर्थक है : इस प्रकार मन्त्र भी विधि वाक्यों के अंग ही हैं। इस रीति से ब्राह्मण प्रोक्त विधि वाक्यों की प्रधानता मीमांसकों के मत में है। परन्तु कुछ लोग वैदिक मंत्रों को ही अर्थात् ऋग, यजुः साम, अथर्व इन मन्त्रसंहिताओं को ही वेद मानते हैं उनके मत से ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदत्व नहीं हैं तथा स्वतः प्रमाणत्व भी न होने से ब्राह्मण प्रोक्त कर्म काण्ड भी निम्नकोटि का ही सिद्ध होता है। क्योंकि कर्म के बोधक ब्राह्मण एवं सूत्र ग्रन्थ ही हैं। पूर्वके प्रायः सभी आचार्य मन्त्र ब्राह्मण दोनों को ही वेद मानते हैं तथा इनका प्रमाणत्व भी तुल्य ही है ऐसा उनके मतों में माना गया है। उपनिषद भाग का बहुत बड़ा अंश ब्राह्मण भाग में ही है अतः वेदान्तियों ने भी मन्त्र, ब्राह्मण दोनों को स्वतः प्रमाण ही

स्वीकार किया है तथापि ये विचार उत्तर वैदिक युग के ही हैं ऐसा आधुनिक विद्वानों ने मान लिया है अस्तु-उक्त कर्मों का अनुष्ठान करके स्वर्ग फल की प्राप्ति मनुष्य करता है। यद्यपि यज्ञादि क्रियायें आशुतर विनाशी होने से यजमान को स्वर्ग नहीं दे सकती हैं तथापि अर्थापत्ति प्रमाण से अपूर्व कल्पना से स्वर्ग की प्राप्ति कराती हैं इसे अर्थापत्ति प्रमाण निरूपण में बताया गया है। इस मत में कर्म फल धर्म से ही होता है। कर्म का दाता ईश्वर नहीं है, मन्त्र और देवता इस मत में अभिन्न हैं। निषिद्ध कर्म नरक पात का हेतु होने से अधर्म है अतः त्याज्य है स्मृतियों में निषिद्ध कर्मों के करने पर प्रायश्चित कर्मों का भी विधान है इस प्रकार विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्रआदि विषयों का यह संक्षेप से निरूपण है यह वैदिक दर्शन है बहुत आचार्यों का यह भी मत है कि मीमांसा, तथा वेदान्त एक ही शास्त्र हैं। इति।

———०———

दर्शन शास्त्र संग्रह

अथ द्वितीय भाग

वेदान्त दर्शन

—:०:—

पूर्व संगति–१

पूर्व भाग में जिन जिन दर्शन शास्त्रों का निरूपण किया गया है वे सब प्राय: नाम रूप के ही ज्ञान कराने में प्रधानता रखते हैं तत्त्व ज्ञान का यथार्थ स्वरूप उनसे नहीं जाना जा सकता है वे उपासना, योग या द्वैत के बतलाने वाले होने से वैदिक दर्शन से पृथक ही हैं कहा भी है 'सांख्यं योगः पांचरात्रंवेदाःपाशुपतं तथा। ज्ञानान्येतानि राजेन्द्र विद्धिनानामतानिवै' (म० शा० अ० ३४१, ६४) इस श्लोक में सांख्य योग, वैष्णव, शैव इन मतों से पृथक् वेदाः' इस पद से वैदिक मत को बताया है। वेद या तत्त्व ज्ञान के स्वरूप को बताने वाले उपनिषद ग्रन्थ मुख्य अद्वैत को बताते हैं। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषंपृच्छामि' इससे ब्रह्मवाद अद्वैत की मुख्यता बताई गई है। पूर्व के दर्शनों की युक्तियों का खण्डन न करते हुये

समन्वय दृष्टि से वेदान्त का अङ्ग मान कर सब की संगति कैसे लग सकती है इसे यहां बताते हैं क्योंकि व्यवहार में अद्वैतवादी भी द्वैत मानते हैं तथा व्यवहार के समर्थक बचनों की संगति श्रुति के अनुकूल करते हैं स्मृति पुराणादि को भी यथावत् मानते हैं। पूर्व के कई एक दर्शन अद्वैत को भी मानते हैं जैसे प्रत्यभिज्ञा शैव, शाक्त, बल्लभस्वामी का शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि तथापि इन सिद्धान्तों में भी कई अनुपपत्तियां हैं जो अद्वैत सिद्धि में पूर्ण रूप से सहायक न होकर एक प्रकार से इन्हें भी द्वैती ही समझना चाहिए क्योंकि इन दर्शनों में जगत सत्य माना गया है तथा जीवेश्वर के भेद को भी किसी अंश में सत्य माना गया है नेति नेति' इस श्रुति से तथा 'तदेवब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' नेहनानास्ति किंचन' इन बचनों से जगत का मिथ्यात्त्व सिद्ध होता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में माया अनिर्वचनीय बाद ही माना गया है जिसे उपनिषद बचनों के साथ अभिन्न रूप से बतायेंगे माया मिथ्यात्व वाद के माने बिना अद्वैत सिद्धि केवल कथन मात्र की है। अतः केवल अद्वैत वाद ही जिसे श्री शङ्कराचार्य ने प्रतिपादन किया है वही यथार्थ अद्वैत मत है। संगति का क्रम इस प्रकार है—चार्वाकमत दर्शन विचार की प्रथम अवस्था है शरीर विशिष्ट आत्मा का स्थूल निरूपण ही इस मत में मान्य होने से तैत्तरीयोपनिषद के अन्नमय कोश के ही अन्दर इसकी गतार्थता है। जैन दर्शन तत्त्व विचार बहुत आगे बढ़कर करता है तथापि स्याद् वाद से संशय वाद में यह मत आ जाते

हैं यद्यपि दृष्टि कोण से पदार्थ को अनेक धर्म वाला सिद्ध करना इस वाद का मन्तव्य है तथापि एक काल में सभी धर्मों का अनुगम न होने से यह वाद संशय कोटि में ही रहता है। संशय संकल्पविकल्पात्मक मन की अवस्था होने से यह विचार भी मनोमय कोश के अन्तर्गत है। बुद्धमत का विज्ञान वाद तथा शून्य वाद भी विज्ञानमय कोश तथा सुषुप्ति अवस्था के अन्तर्गत होने से इन दोनों कोषों में समाविष्ट हो जाते हैं। न्याय, वैशेषिक का ईश्वर जीव और परमाणु का निरूपण द्वैत के अन्तर्गत है ये दर्शन अधिकांश में वेद के समर्थक हैं। केवल जीव नाना, ईश्वर जीव का भेद परमाणु की कल्पना अवैदिक है। सांख्ययोग नैय्यायिकों से भी आगे बढ़कर विचार करते हैं। परमाणुओं को प्रकृति तत्त्व में एक करके पुरुष की असंगता एवं शुद्धता प्रतिपादन किये है तथापि जगत् सत्य, पुरुष नाना आदि कल्पनायें वेद से विपरीत हैं। वैष्णव, शैव और शाक्त दर्शन भी वैदिक धर्म की शाखाओं की ही व्याख्या करते हैं इनका अन्तर्भाव सांख्य, योग में ही है। केवल वैष्णवादि मतों द्वारा वैदिक धर्म की एकता नहीं हो सकती इन्हें भी अद्वैत का साधन मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है वेदान्त दर्शन में 'अपिचसंराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' वे० द० २-३-२४ इस सूत्र में श्रुति, स्मृति प्रमाण द्वारा योग भक्ति आदि साधनों को तत्त्व ज्ञान का अङ्ग माना गया है। भक्ति का योग चरम लक्ष्य नहीं है वैष्णवादि मत उपासना या भक्ति में ही पर्यवसित हैं इनमें भी द्वैत का रहना अनिवार्य है। इसीलिये 'अतोऽनन्तेन तथाहिलिङ्गम'

वे० द० २-३-२६ इस सूत्र में अद्वैत को ही सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया गया है गीता में भी भक्ति ज्ञान के साधन रूप से मानी गई है 'मयिचानन्ययोगेनभक्तिरव्यभिचारिणी' तथा योग भी ज्ञान का अङ्ग है तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति अतः यह प्रसङ्ग इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्व ज्ञान की अन्तिम भूमिका निर्विशेष ब्रह्मवाद ही है। इसे ही तुरीय ब्रह्म रूप से माण्डूक्योपनिषद में कहा गया है। सविशेष बाद में (सगुण) गुणों की अपेक्षा से ही निरूपण किया जाता है इससे तत्त्व अपूर्ण ही रहता है सविशेष (सगुण) ब्रह्म तो वेदान्त के ईश्वर तत्त्व में आ जाता है यहीं तक सगुणता है भेद भी यहीं तक है इसके ऊपर भेद मानना असङ्गत है। पर तत्त्व को सगुण मानने से द्वैत का मानना आवश्यक हो जाता है अद्वैत की सिद्धि के लिए उक्त मतों में सगुण मानते हुये अद्वैत प्रतिपादन करने से वस्तुतः द्वैत ही सिद्ध होता है। अतः शंकराद्वैत ही परम लक्ष्य रह जाता है। जिसका संक्षेप में यह सिद्धान्त है—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एक आत्मा ही स्वतन्त्र पदार्थ है जीव तथा माया की सत्ता ब्रह्म सत्ता ही है। जीव आभास, प्रतिबिम्ब, अवच्छेद आदि रूपों वाला होते हुयेभी ब्रह्म सत्तांतर्गत है माया सद तथा असद से विलक्षण अनिर्वचनीय है इसे ही मिथ्या कहते हैं। ब्रह्म से भिन्न उसकी सत्ता नहीं है। इसी के प्रदर्शन के लिए उपनिषद, गीता और वेदान्त दर्शन की प्रवृत्ति है।

उपनिषदों में सृष्टिक्रम तथा ब्रह्म स्वरूप

छान्दोग्य उपनिषद के छठवें अध्याय में उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्रश्वेतकेतु को इस जगत का मूल कारण क्या है इसका उपदेश दिया है और जगत में दिखने वाली अनेकता वास्तविक या मिथ्या है इसे नौ बार अनेक सुन्दर दृष्टान्तों से समझाया है। इसी प्रसंग में जीवात्मा और परमात्मा के एकता को बताने वाले 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश भी दिया गया है। अनेक प्रकार के दृष्टान्तों से अद्वैत की सिद्धि की गई है। उद्दालक ने श्वेतकेतु से पूछा है कि 'उततमादेशम प्राक्ष्यः, येनाश्रुत श्रुतं भवति, अमतं मत मविज्ञातं विज्ञातमिति' दा० ६, ३ हे प्रिय तुमने गुरु से उस परम आदेश को प्राप्त किया है जिससे नहीं सुना हुआ भी सुना हुआ, अमतमत एवं नहीं जाना हुआ भी विज्ञात हो जाता है! तब श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कथंनुभगवः स आदेशोभवति' अर्थात् हे भगवन् आप ही कहिये वह आदेश किस प्रकार का है मैने उसे नहीं प्राप्त किया है। ऐसा सुनने पर महर्षि उद्दालक ने सर्व प्रथम दृष्टांत द्वारा कहते हैं–यथासोम्यैकेन मृत्पिण्डेनसर्वं मृन्मयं विज्ञात् ं स्याद् वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृतिकेत्येवसत्यम्' हे प्रिय जैसे एक मृतिका के ज्ञान होने पर समस्त मृतिका के कार्यों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि मृतिका कारण होने से कार्य में व्याप्त होती है एवं सत्य है उसके अनेक प्रकार के कार्य घट, करवा आदि तो केवल कथन मात्र हैं क्योंकि कारण दृष्टि से पृथक् उनकी सत्ता न

होने से मिथ्या हैं; श्रुति में एव' पद से कारण की सत्यता सिद्ध होती है इससे यह सिद्ध होता है कि केवल कारण ही सत्य है और कार्य के रूप में अनेकाकार जो प्रतीति है वह मिथ्या है। आगे कहते हैं—'सदेव सोऽग्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुरस देवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयंतस्मादसतः सज्जायत कुतस्तु स्वलु सोम्यैवं स्यादिति होवाचकथमसत्तः सदजायत सत्त्वेवसोम्येदमग्र-आसीदेक मेवाद्वितीयम्' छा० (६-२-२) हे प्रिय यह दृश्यमान जगत् जो नाम रूप के सम्बन्ध से अनेकाकार प्रतीत हो रहा है सृष्टि के पहले सदरूपवाला ही था अर्थात् अपने कारण से पृथक् सत्ता वाला न होते हुये त्रिविध भेद शून्य (स्वगत, सजातीय, विजातीय) एक अद्वैत ही था। कोई कोई कहते हैं असत् (शून्य) था, यह कैसे हो सकता है क्योंकि असत् का जब स्वरूप ही नहीं है तो उससे सृष्टि कैसे हो सकती है इसलिये सत् एक अद्वि-तीय था ऐसा निश्चय करो 'तदैक्षतबहुस्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत्' इत्यादि वचन से 'वह ब्रह्म संकल्प किया और तेज, जल, पृथिवी आदि रूप से सृष्टि रचकर 'अनेन जीवेनात्मना 'प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस बचन से वही अपने जीव रूप से नाम रूप को व्यवहार योग्य किया। तैत्तरीयोपनिषद् में आत्मा से ही सृष्टि मानी गयी है। 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्र से ब्रह्म का लक्षण बताकर 'तस्माद्वाएतस्मा दात्मनः आकाशः सम्भूत आकाशा द्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या औषधयः इत्यादि प्रसङ्ग से जो छान्दोग्य श्रुति में सद अद्वैत शब्द से कहा गया है

वही यहाँ आत्मा या ब्रह्म पद से कहा गया है। मुण्डकोपनिषद में भी शौनक अङ्गिरा के संवाद में भी यही बात कही गयी है 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातंभवति' हे भगवन्! ऐसा कौन सा तत्त्व है जिसके ज्ञान से सब कुछ जाना जाता है, इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है यत्तदद्रेश्यंमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रंतदपाणिपादंनित्यं विभुंसर्वंगतं सुसूक्ष्मं तद व्ययं तद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीराः मु० १-६। वह ब्रह्म सब भूतों के उत्पत्ति का कारण सर्वगत, अव्यय, विभु नेत्रकर्णहस्त आदि से रहित, अत्यन्त सूक्ष्म है उसे धीर ही जानते हैं उससे सृष्टि उत्पत्ति का प्रकार इस तरह बताया है ' यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्या मोषधयः सम्भवन्ति। यथासतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीहविश्वम् मु० १-७। जैसे मकड़ी अपने अन्दर से जाले को निकालती और फैलाकर अपने में ही समेट लेती है जैसे पृथिवी से समस्त औषधियों की उत्पत्ति, लय होता है और जैसे जीवित पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं इसी तरह ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति एवं लय होता है। 'यतो जातानि भुवनानि विश्वा' श्वे० अ० ४-४ इस श्रुति से भी जगत का कारण ब्रह्म ही माना गया है, जन्माद्यस्ययतः वे० द० १-१-२ इस सूत्र से भी सृष्टि के लिये ब्रह्म कारण वाद ही स्वीकार किया है 'इक्षतेर्नाशब्दम्' वे० द० १-१-५ इस सूत्र में प्रकृति कारण वाद का खण्डन करके ब्रह्म कारण वाद ही स्वीकार किया गया है। अतः वेदान्त सिद्धान्त ब्रह्म कारण वाद को ही मानता है, प्रकृति, परमाणु बाद में

कोई भी श्रौत प्रमाण नहीं है जिस सत्पदार्थ से वेदान्त वाक्य सृष्टि स्थिति और लय का प्रतिपादन करते हैं उसका दो स्वरूप श्रुतियों में माना गया है, एक सगुण दूसरा निर्गुण जिसे नाम रूप उपाधि विशिष्ट या नाम रूप उपाधि रहित कहते हैं 'एकोदेवः सर्वाभूतेषुगूढ़ः सर्व व्यापी सर्व भूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च श्वे० ६-१,समस्त भूतों में एक ही देव नामरूप की ओट में छिपा हुआ है वह सर्व व्यापी सर्व भूतों का आत्मा प्राणियों के कर्मों का फल दाता साक्षी चेतन केवल और निर्गुण है। 'सपर्यगाच्छुक्रम कायमत्रणस्नाविर' 'शुद्धमपाप विद्धम्' य० वे० ४० ८ वह आत्मा स्थूल सूक्ष्म, कारण शरीरों से रहित होने से मुक्त तथा शुद्ध है 'अशरीरशरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं बिभुमात्मानंमत्वाधीरोनशोचति' शरीरों में रहता हुआ भी अशरीरी विनाशियों में अविनाशी ऐसे महान विभुआत्मा के जानने पर धीर शोक मोह से रहित हो जाता है। अशरीरं वावसन्तं न प्रिया प्रिये स्पृशतः' निश्चय अशरीरी को दुःख सुख नहीं होता। ये वाक्य सब निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को बताते हैं। 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपमीयते' आत्मा माया शक्ति से ही अनेक रूपता को प्राप्त है 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी सभगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः' ये सगुण रूप की महत्ता के बचन हैं 'आनन्दादयः प्रधानस्य' इस सूत्र से विधेय गुणों का आश्रय ब्रह्म को बताया गया है। इन दोनों रूपों में निर्गुण की ही प्रधानता है 'अरूपव

देवहितत् प्रधानत्वात्' वे० द० ३-२-१४ ब्रह्म निर्गुण ही है क्योंकि उसी की प्रधानता है तथापि जगत की सृष्टि स्थिति और लय सगुण से ही होता है, 'सामीप्यात्तुतद्व्यपदेश:' वे० द० ४, ३-९ इस सूत्र से सगुण में भी ब्रह्मत्व व्यवहार किया जाता है माण्डूक्योपनिषद् में सगुण ईश्वर के विषय में कहा गया है 'एषसर्वेश्वर एषसर्वज्ञ: एषोऽन्तर्यामी एषयोनि: सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हिभूता नाम' अर्थात यही ईश्वर सगुण ब्रह्म ही अन्तर्यामी समस्त भूतों का उत्पादक एवं प्रलयकर्ता है। यही ब्रह्म का तीसरा पाद है इस के परे चतुर्थ पाद रूप से निर्गुण ब्रह्म बताया गया है 'ततोयदुत्तरतं तद्रूपमनामयम्। य एतद्विदुरमृतास्तेभवन्ति अथेतरेदु:खमेवापियन्ति' श्वे ३-१० इस मन्त्र में भी निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट कहा गया है। कठ में भी कहा है' अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्रभूताच्चभव्याच्चयत्तत्पश्यसितद्वद' क० २-१३-१४ धर्माधर्म से भिन्न कार्याकार्य से भिन्न भूतभविष्यत से भिन्न जिसे आप जानते हैं उसे कहिये ऐसा नचिकेतानेयम से प्रश्न किया है यह निर्गुण विषयक ही प्रश्न है। 'अन्यदेवविदितादथोऽविदितादधि' निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। 'नेतिनेति' इन बचनों का तात्पर्य निरुपाधिक, निर्गुण ब्रह्म के बताने में ही है। अव्यक्तं व्यक्ति मापन्नंमन्यन्तेमामबुद्धय:। परं भावमजानन्तोममभूतमहेश्वरम्' गीता के इस श्लोक में भी यही बात कही गई हैं 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' कठश्रुति भी इसे ही कहती है। कहीं कहीं निर्गुण ब्रह्म से भी सृष्टि आदि कहे गये हैं

तथापि सगुण ब्रह्म का अन्योन्याध्यास निर्गुण के साथ होने से ही ऐसा कहा गया है वास्तव में नहीं, जैसे जीव साक्षी में जीवत्त्व का व्यवहार वेदान्तग्रन्थों में कहीं कहीं किया जाता है। नव्य परिभाषा में मायापहित शुद्ध ब्रह्म है, मायावच्छिन्न ईश्वर है। मायोपहित को ही ईश्वर साक्षी कहते हैं। अन्तः करणोपहित जीव साक्षी एवं अन्तःकरणावच्छिन्न जीव है। उक्त सगुण निर्गुण की व्याख्या पौराणिकों ने भी उक्त प्रकार की ही की है श्रीमद्भागवत में भी ये दोनों ब्रह्म के स्वरूप माने गये हैं 'सएवेदंससर्जाग्रे भगवानात्म-मायया सदसदरूपया चासौ गुणमय्याऽगुणोंविभुः। तयाविलसिते-ष्वेषुगुणेषुगुणवान इव। अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भतः। यथाह्यवहितो यह्वि दारुष्वेकाःस्वयोनिषु। नानेवभाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्। (श्री-भा १-२-३०, ३१, ३२) अर्थात् इस सृष्टि के पहले कारण रूप से विद्यमान निर्गुण विभु उस परमात्मा ने अपनी सदसद्रूप (मिथ्या) वाली गुणमयी माया से इस जगत की रचना की, स्वभावतः माया गुणों से रहित होते हुये भी वह इस माया से गुणवान की तरह प्रतीत हो रहा है जैसे एक ही अग्नि अनेक काष्ठों में अनेकाकार प्रतीत होते हुये भी वस्तुतः वैसा नहीं है ऐसा ही ब्रह्म भी है। महाभारत में कहा है 'मायह्येषाम-या सृष्टा यन्मांपश्यसिनारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं मां मैवं ज्ञातु मर्हसि' अर्थात् ब्रह्म की अनेकता माया से ही प्रतीत हो रही है वास्तव में तो वह एक रस तथा सर्वथा शुद्ध है। निर्गुण स्वरूप

यद्यपि प्रधान है तथापि सृष्टि कार्य तथा उपासना सगुण की ही होती है। निर्गुणोपासना कष्ट साध्य है।

ब्रह्म की कारणत्ता-३

पहले प्रसंग में ब्रह्म को जगत का कारण बताया गया है उस पर यह प्रश्न होता है कि ब्रह्म इस जगत का किस प्रकार का कारण है इसे श्वेत्ताश्वतर में इस प्रकार बताया है 'किकारणं ब्रह्म कुतः स्मजाता जीबामकेन च क्वचसंप्रतिष्ठाः' इत्यादि प्रसङ्ग में ऋषियों ने विचारु किया है कि ब्रह्म इस जगत का कौन सा कारण है—उपादान कारण या निमित्तनया उभयरूप। इसके पश्चात् 'ते ध्यानयोगानुगत्ताअपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढ़ाम्। ऋषियों ने ध्यान योग से देव की आत्मशक्ति को सत्वरजतमइनगुणों से व्याप्त देखा और निश्चय किया कि इस प्रकृति से अधिष्ठित परमात्मा ही इस जगत का कारण है। इसी प्रकृति को माया भी कहा गया है 'मायां तु प्रकृतिविद्यानमायिनंतुमहेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तुव्याप्तं सर्वमिदं जगत्। पूर्व मन्त्र में जिसे देव की शक्ति कहा गया है उसे ही यहां माया कहा गया है। शक्ति शक्तिमान का अभेद ही सिद्धान्त है अतः माया ब्रह्म से स्वतन्त्र सत्ता वाली नहीं है। ब्रह्माधिष्ठित माया में ही पहला ईक्षण होता है जिसे 'एकोहंवहुस्याम' के द्वारा कहा जाता है इसे स्पष्ट रूप से इस कारिका में कहा गया है—'अस्तिभाति प्रियंरूपंनामचेत्यंसपञ्चकम्। आद्यत्रयं ब्रह्मरूपंमायारूपं ततो द्वयम्। अर्थात् सत, चित, आनन्द ये

तीन रूप ब्रह्म के हैं तथा माया का रूप, नाम रूपात्मक यह जगत् है 'यद्विषयाबुद्धिर्नव्यभिचरतितत्सम्' अर्थात् जो सदैव एक सा रहे उसे सत् कहते हैं जो सत् है वही चित् आनन्द भी है। इसी सत्याधिष्ठान में माया नाम रूप की रचना करती है यह रचना शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प, स्वप्न के पदार्थ आदि दृष्टान्तों से बताई जाती है, जिस प्रकार रज्जु, शुक्ति एवं जागने पर स्वप्न के पदार्थ अधिष्ठान का ज्ञान होने पर सर्प रजत आदि की निवृत्ति हो जाती हैऐसे ही ब्रह्मज्ञान होने पर,जगत के मिथ्यात्व रूप निश्चय होने पर परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। इस पूर्वोक्त निरूपण से ब्रह्म को केवल निमित्त या उपादान मात्र न मानकर अभिन्न निमित्तोपादान सिद्ध होता है। जब सृष्टि अपने कारण में लीन रहती है और उसका विकास होने लगता है तब द्वैत जन्य व्यवहार होता है, जैसे एक चने के बीज में कारण रूप से उसके डाल पत्ते फूल आदि सभी चीजें रहती हैं उस अवस्था में केवल चने का बीज ही रहता है, यदि ये डाल पत्ते आदि कारण में न हो तो कार्य में नहीं आ सकते क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यह दृश्यमान जगत ब्रह्म की माया शक्ति में सृष्टि के पहले रहता है बाद में कार्य रूप से प्रकट होता है। माया तथा ब्रह्म का अभेद होने से अद्वैत कहा जाता है। ब्रह्म चेतन होने से निमित्त कारण है। और माया ब्रह्म से भिन्न न होने से वह उपादान कारण भी है, ऐसा ऋषियों ने ब्रह्म कारण वाद का निर्णय किया। इस पर द्वैतवादी यह आक्षेप करते हैं कि ब्रह्म को

केवल निमित्त कारण ही मानना चाहिए उपादान नहीं क्योंकि उपादान कारण मानने से ब्रह्म विकारी हो जायगा और निष्क्रियं निष्कलंशान्तम्' आदि श्रुति से विरुद्ध होगा, क्योंकि उपादान में क्रिया अवश्य होती है जैसे मृत्तिका में क्रिया होकर ही घट बनता है और घट बनाने वाला कुम्हार अपने स्वरूप से ही रहता है इसी तरह ब्रह्म को अविकृत सिद्ध करने के लिये केवल निमित्त कारण ही मानना चाहिए और यह भी नियम है कि उपादान के गुण कार्य में आते हैं जैसे काले सूत से काला ही कपड़ा बनता है ऐसे ही जगत को भी सच्चिदानन्द ब्रह्म से उत्पन्न मानने पर उसे भी सच्चिदानन्द मानना पड़ेगा। परन्तु ब्रह्म को परिणामी उपादान न मानते हुये विवर्तोप दान मानते हैं ऐसा मानने से कोई दोष नहीं आता जैसे सोने में आभूषणों की कल्पना एवं रज्जु में सर्प की कल्पना से सोना तथा रस्सी में कोई हानि नहीं होती न उक्त श्रुति से विरोध आता है। कारण के गुण कार्य में आने का नियम परिणामी उपादान में है सो भी अयुक्त है क्योंकि जगत के कारण प्रकृति, परमाणु आदि मानने वाले भी परमाणु एवं प्रकृति स्वरूप जगत को नहीं मानते यदि ऐसा हो तो जगत को भी निरवयव होना चाहिये। श्रुति में ब्रह्म को विवर्तोपादनता ही मानी गई है। तेनेशितंकर्म विवर्ततेह पृथिव्याप्य तेजोनिल खानि चिन्त्यम्, ' श्वे ६-२—'विवर्तते' इस पद से स्पष्ट है। माया को परिणामी उपादान इस श्रुति से मनाया गया है 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णांबह्वी:प्रजा:सृजमानास्वरूपा: श्वे-४-५। यह

विषय आगे स्पष्ट रूप से कहा जायगा। इस प्रकार उपादान कारण ब्रह्म को मानने से कोई क्षति नहीं होती प्रत्युत केवल निमित्त ही ब्रह्म को मानने से एक देशीयत्व सशरीरत्व आदि दोष ब्रह्म में आते हैं क्योंकि निमित्तकारणकर्ता सशरीरी तथा एक देशी ही होता है। इसलिये प्रकृति को ब्रह्म से भिन्न मानना या केवल निमित्त ही मानना अयुक्त भी ठहरता है। मकड़ी का दृष्टान्त निमित कारणवाद का खण्डन करके अभिन्न निमित्तोपादान को सिद्ध करता है। निमित्त कारण कर्त्ता उपादान से सर्वथा भिन्न शरीरधारी होता है, जैसे मृत्तिका और कुम्हार परस्पर भिन्न हैं वैसा मकड़ी का दृष्टान्त नहीं है अपने शरीर से निकाले हुये जाले का निमित्त एवं उपादान दोनों ही कारण मकड़ी है इसलिये अभिन्न निमित्तोपादान कारणवाद ही वैदिक सिद्धान्त है। 'प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् वे० द० १-४-२३ साक्षाच्चोभयम्नानात् वे० द० १-४-२५ इन सूत्रों में भी उपर्युक्त प्रकार ही माना गया है। एक विज्ञान से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा निमित्तोपादान के होने पर ही बन सकती है 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' पा० १-४-६० इस सूत्र में भी उभय कारणवाद ही स्वीकार किया गया है 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' गी० ७-६ इस गीता वाक्य से भी उक्त मत सिद्ध होता है उत्पत्ति स्थिति तो निमित्तकारण से भी होती है परलय तो उपादान में ही होता है। 'प्रभवः प्रलयस्तथा' इस गीता बचन में अभिन्न निमित्त पक्ष दृढ़ होता है। ऐसा मानने पर ही परमतत्त्व पूर्ण और व्यापक

सिद्ध हो सकता है भेद मानने पर अल्पत्व और विनाशित्व नियम सिद्ध है 'यदल्पंतन्मर्त्यम्' छा० (७-२४-१) इस श्रुति वाक्य से सिद्ध है अतः उक्त प्रमाणों से ब्रह्म की कारणता निश्चित हो जाती है कि वह जगत का अभिन्ननिमित्त कारण है बहुत से लोगों का कहना है कि यह सिद्धान्त वैदिक नहीं है केवल उपनिषदों का ही यह मत हैं इसलिये वेद प्रमाण से भी इसकी संगति लगाने के लिये आगे का प्रसङ्ग लिखते हैं।

वेद प्रतिपादित-अद्वैत सिद्धान्त–४

ऋग्वेद कानासदीय सूक्त अद्वैत ब्रह्मवाद का मूल एवं भित्ति है सारे अद्वैतवादी आचार्यों ने इसका आश्रय लिया है। जो तत्त्वपूर्वक प्रकरणों में कहा गया है उसका संक्षिप्त एवं सारगर्भित भाषा में वर्णन, तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए एवं वैदिक तत्त्व ज्ञान को जानने के लिये स्तम्भ रूप है इस पर ही अद्वैतवाद की इमारत खड़ी है इसलिये सूक्त के मन्त्रों का अर्थ एवं अभिप्राय लिखते हैं–नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजोनव्योमा परोयत्। किमावरीयः कुहकस्यशर्मन्नम्भेःकिमासीद्गहनंगभीरम्।।१।। अ. सृष्टि की प्रथमावस्था में सत् असत् दोनों का अभाव था अर्थात् प्रकृति ब्रह्म में स्वरूप से स्थित थी अन्तरिक्ष तथा उसके परे का आकाश भी नहीं था इस अबस्था में किसने किस को आवृत किया किस स्थान पर किया किसके उपभोग के लिये किया क्यों कि अगाध जल भी उस अवस्था में कहां था 'यतो वाचोनिवर्तन्ते' आदि

उपनिषद वाक्यों में जिसे कहा गया है उसे ही यहां कहा गया है अद्वैतावस्था द्वैतभाषा से नहीं कही जा सकती क्योंकि द्वैत तो बाद में उत्पन्न हुआ मनु ने भी कहा है 'आसीदिदंतमोभूतमज्ञातम लक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तामिव सर्वतः (म० स्मृ० १-५) सृष्टि की प्रथमावस्था अन्धकार के सदृश अज्ञात, लक्षण, तर्क एवं बुद्धि से रहित गाढ़ निद्रा की तरह थी 'न निरोधोन चोत्पत्ति र्न वद्धो न च साधकः: । नमुमुक्षुर्नवैमुक्त इत्येषापरमार्थता' इस श्रुति में यही बात कही गई है ॥ १ ॥ न मृत्युरासी दमृतंनर्तहि नरात्र्या अह्ना आसीत प्रकेतः । आनीदवात स्वाधया तदेक तस्माद् धान्यन्नपरः किञ्चनाऽऽस ॥ २ ॥ अर्थ—उस समय मृत्यु भी नहीं थी क्योंकि नाशवान सृष्टि भी नहीं थी और अमृत (प्रकृति जो अविनाशी कही जाती है) वह भी नहीं था इसी प्रकार रात्रि और दिन के भेद को जानने के लिये चन्द्र सूर्य चिन्ह भी नहीं थे जो कुछ था वह अकेला ही था अपनी शक्ति द्वारा वायु के बिना ही श्वासोच्छ्वास लेता हुआ स्फूर्ति रूप वाला था उससे भिन्न या परे कुछ भी नहीं था 'सदेवसोम्येदमग्रआसीदे-कमेवाद्वितीयम्' श्रुति का सिद्धान्त इस मन्त्र से कहा गया है। ॥ २ ॥ तम आसीत्तमसन गूढ़मग्रेऽप्रकेतंसलिलं सर्वमा-इदम् । तुच्छेनाभुअपिहितंतदासीत् तपसस्तन्महिम्नाऽजायतैकम् ।३। अ०—ऐसा कहा जाता है कि आदि में अन्धकार और उसी में भेदा-भेद रहित जगत का कारण था सर्वव्यापी ब्रह्म पहले से ही तुच्छ अर्थात् सत असत से विलक्षण अनिर्वचनीय माया से

आच्छन्न था। वह शुद्ध ब्रह्म मूल में एक रहता हुआ पहले पहल तप (नित्यज्ञान) की महिमा से आदि में प्रकट हुआ 'एकोहं बहुस्याम' इससे समर्थित होता है ॥३॥ कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसोरेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसतिनिरविन्दन्हृदि-प्रतीष्याकवयो मनीषा ॥ ४ ॥ अर्थ—इसके संकल्प से जो वीर्य उत्पन्न हुआ वही काम हुआ अर्थात् मायाशक्ति हुई जिससे जगत् उत्पन्न होता है ज्ञानियों ने यह समझा कि यही असत् का सर्व-प्रथम सत् से सम्बन्ध हुआ इससे 'सोऽकामयत' इस श्रुति का सिद्धान्त सिद्ध होता है तथा अध्यासवाद आदि वेदान्त के सिद्धान्तों का मूल यही मन्त्र है ॥४॥ तिरश्चीनोविततोरस्मिरेशामधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत्। रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधाअवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥ अर्थ—यह किरण या धागा इसमें तिरछा फैल गया यदि कहा जाय कि यह नीचे ही है तो वह ऊपर भी है उनमें कुछ बीजप्रद हुये और बढ़ कर बड़े हुये उनकी निजी शक्ति इस ओर रही और प्रयति अर्थात् प्रभाव उस ओर व्याप्त रहा 'सच्चत्यच्चाभवत्' इत्यादि तैत्तरीयो-पनिषद् का भाव समर्थित होता है ॥ ५ ॥ को अद्धावेदक इह प्रवोचत् कुत आजाता कुतइयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवाअस्यविसर्जनेनाथकोवेद य आबभूव ॥ ६ ॥ अर्थ—सत का विस्तार किससे या कहां से हुआ यह निश्चय पूर्वक कौन कह सकता है इसे निश्चयात्मक रूप से कौन जान सकता है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसासह' इस का भाव व्याख्यात होता है ॥ ६ ॥ इयं

विसृष्टिर्यत आवभूव यदिवादधे यदिवान । यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमनसो अङ्गवेदयदिवानवेद ।।७।। अर्थ—सल का विस्तार जिस स्थान से हुआ या बनाया गया था उसे परमाकाश में रहने वाला इस सृष्टि का अध्यक्ष हिरण्यगर्भ ही जानता होगा या न भी जानता हो इसे कौन कह सकता है ।।७।। इन मन्त्रों में जो अर्थ कहा गया है वही उपनिषदों में भी है । दोनों का ऐक्य ही सिद्ध होता है उपनिषद मन्त्र से विपरीत नहीं है । ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद में भी अद्वैतवाद माना गया है 'ऋतस्यतन्तु विततं विकृत्य तदपश्यत्तदभवत् तदासीत्' य०अ० ३२-१२ । इस मन्त्र के 'तदपश्यतदत्तदभवत्तदासीत्' इस मन्त्र भाग से अद्वैतरूप परमार्थावस्था की सिद्धि होती है उव्वट; महीधर दोनों भाष्यकारों ने अद्वैत ही माना है। अथर्व के द्वितीय काण्ड के वेन सूक्त में भी अद्वैत ही माना गया है आर्य समाजी विद्वान श्रीपाद दामोदर सात वलेकर ने भी अद्वैत परक ही उसका अर्थ किया है अतः वैदिक सिद्धान्त अद्वैत है यह सिद्ध हो जाता है ।

पुराणों में अद्वैत सिद्धान्त—५

बहुत लोगों का ऐसा आक्षेप है कि उक्त अद्वैत सिद्धान्त श्री शङ्कराचार्य ने अपने मन से बनाया है वह प्राचीन नहीं है माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपाद ने जो कारिकायें बनाई हैं उन्हीं की व्याख्या शङ्कराचार्य ने किया है और उसके सिद्धान्त मायावाद एवं अजात वाद का प्रचार किया है परन्तु यह मत भ्रम मूलक

है यह सिद्ध हो चुका है गौडपाद की व्याख्या उत्तर गीता पर है उसमें बहुत से श्रीमद्भागवत के बचन आये हैं और श्रीमद्भागवत में विवर्तवाद, मायामिथ्यात्व, रज्जु सर्प का दृष्टांत स्वीकार किया गया है अतः इस सिद्धान्त को शङ्कराचार्यकृत मानना अयुक्त है। योगवाशिष्ठ भी अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है यह भी श्री भाखनलाल आत्रेय ने सिद्ध कर दिया हैं उसमें भी अद्वैत सिद्धान्त माना गया है। भागवत के ब्रह्म स्तुति में कहा गया है—'तस्मदिदंजगदशेषमसत्स्वरूपंस्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुखम् । त्वय्येवनित्यसुखबोधतनावनन्तेमायातउधदपियत्सदिबावभाति । अर्थात् यह समस्त जगत् असत् स्वप्न की तरह सच्चिदानन्दस्वरूप आप (ब्रह्म) में माया से उत्पन्न होकर सत्य की तरह प्रतीत हो रहा है। इससे मायावाद की सिद्धि हो रही है। इसके आगे जगत को स्पष्ट शब्दों में मिथ्या कहा गया है 'गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषायेतेतरन्तीवभवानृताम्बुधिम्' (भ० द० १४-२४) श्री गुरु द्वारा उपनिषद रूप ज्ञान प्राप्त कर मिथ्या संसार को वे जन तर जाते हैं'। कई विद्वान संसार एवं जगत को भिन्न मानते हैं और कहते हैं कि जगत सत्य एवं संसार मिथ्या है जगत ब्रह्मकृत है और संसार जीव कृत होने से मिथ्या है। परन्तु जगत और संसार दो वस्तु नहीं हैं पहले श्लोक में जगत् को मिथ्या कहा गया है तथा दूसरे श्लोक में संसार के पर्यायभव शब्द को मिथ्या बताया है 'संसृतौ चशिवे भवः' (नानार्थरत्नमाला) शंखस्मृति में भी कहा है—'जगदेतन्निराक्रन्दं निःसारम-

नर्थकम् । भोक्तव्यमितिनिर्दिष्टोमुच्यतेनात्रसंशय:' इस श्लोक में निःसार एवं असत् ही जगत को कहा गया है। 'असत्यमप्रतिष्ठं च जगदाहुरनीश्वरम्' इस गीता के श्लोक से भी बहुतों ने जगत को मिथ्या कहना असुरों का मत बतलाया है परन्तु ऐसा मानना गीतार्थ से विपरीत है। नवें अध्याय में 'अनित्यमसुखंलोकमिमं-प्राप्यभजस्वमाम्' इस श्लोक में जगत के पर्यायलोक शब्द को अनित्य और दुःखरूप कहने से अर्थतः मिथ्यात्व सिद्ध होता है। अमरकोश में जगत और लोक एक ही अर्थ में माने गये हैं 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपंभुवनं जगत्' (२-१-६) गीता के श्लोक का बहुब्रीहीसमास करने से अन्य पदार्थ प्रधान मानने पर ब्रह्म का अर्थ होने से संगति लग जाती है 'नविद्यतेसत्यमस्मिन्निति असत्यम्' नविद्युतईश्वरोयस्मिन्निति अनीश्वरम्' आदि अतः अद्वैतसम्मतजगतमिथ्यात्व: अर्थ में कोई बाधा नहीं आती। रज्जुसर्प का दृष्टान्त भी भागवत में दिया है 'ज्ञानेनभूयोऽपिचतत् प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगंभबाभवौयथा। भा० स्क० १०-१४-२५ आत्मा के अज्ञान से ही सम्पूर्ण प्रपञ्च रज्जु सर्प की तरह उत्पन्न होता है तथा आत्मज्ञान होने पर जैसे रस्सी का सांप अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाता है ऐसा ही यह प्रपञ्च है इन प्रमाणों से अद्वैतवाद के सभी मन्तव्य प्रकट होते हैं ऐसा ही निरूपण विष्णुपुराण में भी कई स्थानों में आया है प्रायः सभी पुराण इसे मानते हैं।

अद्वैत सिद्धान्त में-युक्तिवाद-६

पूर्व प्रसङ्ग में विवर्त एवं परिणाम की चर्चा की जा चुकी है उसे ही विस्तार के साथ कहते हैं तथा नव्य परिभाषा में वेदान्तियों ने खण्डन मण्डन की जैसे शैली अङ्गीकार करके अद्वैत को सिद्ध किया हैं उसे यहां बतलाते हैं—परिणाम का लक्षण इस प्रकार किया जाता है 'तात्त्विकोऽन्यथाभाव:परिणाम:' समानसत्तावाले पदार्थ का अन्यथा भाव परिणाम कहाता है जैसे दूध का दही होना। 'अतात्त्विकोऽन्यथाभावोविवर्त:' विषम सत्ता वाले पदार्थ का स्वरूप से च्युत न होकर अन्य आकार में प्रतीत होना विवर्त कहलाता है जैसे रज्जु सर्प। परिणाम में वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग करके अन्य रूप धारण करता है और अपने पूर्व रूप में नहीं आता है। जैसे दूध दही होने के बाद फिर दूध नहीं होता। विवर्त में रज्जु अपने स्वरूप से रहती हुई सर्प का अधिष्ठान होती है और सर्प के निवृत्त होने पर तथा सर्प प्रतीति काल में भी ज्यों की त्यों रहती है सर्प और रस्सी की अवस्था भिन्न है और परिणाम में दूध एवं दही की सत्ता एक अर्थात् व्यावहारिक है रज्जु सर्प की सत्ता प्रातिभासिक कहलाती है। इसी प्रकार ब्रह्म स्वरूप से अविकृत होता हुआ जगदाकार जो प्रतीत हो रहा है इससे उसकी विवर्तोपादनता सिद्ध होती है 'तमेवभान्त मनुभातिसर्वम्' इस श्रुति में यही कहा गया है। यह प्रदीयमान जगत ब्रह्म का विवर्त और माया का परिणाम है जो आकाश, वायु आदि रूप से

परिणत हुई है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—जैसे घटरूप कार्य में परिणत मृतिका तथा उसमें घटोत्पादन शक्ति इन दो कारणों से घट बनता है मृतिका तो ज्यों की त्यों रहती है केवल घटरूप से शक्ति का परिणाम होता है। घट अवस्था में भी कारणरूप मृत्तिका में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं आती है इसी तरह ब्रह्म की अवस्था अविकृत होते हुये कार्यकाल में माया शक्ति ही जगत रूपसे परिणत होती हैं। शक्ति का स्वभाव फैलाव एवं संकोच वाला है जैसे मन्त्र या मणि के संनिधान से अग्नि की दाह शक्ति घटती है और अग्नि के समीप से उसे हटा लेने पर फैल जाती है अग्नि तो इस अवस्था में पूर्ववत् जलती ही रहती है आविर्भाव तिरोभाव शक्ति में ही होते हैं इसलिये शक्ति में ही परिणाम मानना युक्त ठहरता है। ब्रह्म में परिणाम मानना अयुक्त है क्योंकि वह चेतन है चेतन के परिणाम में कोई दृष्टान्त नहीं है माया जड़ है अतः उसका ही परिणाम सम्भव है। ब्रह्म परमार्थिक सत्य है माया के कार्य मिथ्या हैं एवं उसकी व्यावहारिक सत्ता है। 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' 'वासुदेवः सर्वम्' इन बचनों की अद्वैत बोधकता जगत मिथ्या होने पर ही हो सकती है जैसे रज्जु सर्प के बाध होने पर रस्सी ही रस्सी है ऐसा कहा जाता है। यदि जगत सत्य हो तो उसका निषेध कैसे हो सकता है? नेतिनेति' तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इन बचनों से जगत को ब्रह्मत्व निषिद्ध है। माया से जगत का सम्बन्ध अनादि है और ब्रह्म में आरोपित है संयोग, समवाय आदि नहीं हो सकते क्योंकि अप्राप्त की

प्राप्ति में संयोग होता है, दो भिन्न पदार्थों में समवाय होता है, बिभु व्यापक ब्रह्म की अप्राप्ति नहीं हो सकती, तथा माया ब्रह्म का अत्यन्त भेद भी असिद्ध है अतः आरोपित या आध्यासिक सम्बन्ध ही मानते हैं। समवायका अनङ्गीकार इसीलिये है। श्री स्वामी शङ्कराचार्य ने उपोद्धातभाष्य में कहा है 'युष्म दस्मद्गोचरयो विषयविषयिणोस्तमः प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः' इत्यादि चेतन जड़ का अत्यन्त स्वभाव भेद है इनका परस्पर सम्बन्ध कल्पित ही हो सकता है, वह अध्यास है अन्य में अन्य का आरोप अध्यास कहाता है। 'अतस्मिस्तद्बुद्धिः' स्मृतिस्वरूप के सृदृश अन्यत्र देखे हुए पदार्थ का अन्यत्र अवभास होना ही अध्यास है ख्याति निरूपण में इसे स्पष्ट रूप से कहेंगे। अध्यास दो प्रकार का है। अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास और भी अध्यास के अवान्तर भेद नव्य ग्रन्थों में कहे हैं तथापि विस्तारो भय से यहां नहीं लिखे जा सकते। इसी अध्यास को मानकर लौकिक, वैदिक व्यवहार प्रवृत्त हैं। अन्यथा आत्मा में असंगता होने से कर्तृ त्व भोक्तृत्व नहीं हो सकेगा। यदि आत्मा में स्वाभाविक कर्तृ त्व मानें तो सुषुप्ति,तथा समाधि का अभाव होगा अतः नैमित्तिक कर्तृ त्व ही माना गया है। गीता में भी कहा है—'अहंकारविमूढात्माकर्ताहमितिमन्यते' यदि नैमित्तिक कर्तृ त्व भोक्तृत्व न माने तो संसार सर्वदा बना ही रहेगा मुक्ति का अभाव होगा। 'यत्रहिद्वैतमिवभवतितदितर इतरंपश्यति' यस्यतुसर्वमात्मैवाभूत्तत्केनकं पश्येत् बृ॰ २-४-२४ इत्यादि प्रसङ्ग में कर्त्ताकर्म करण आदि का अभाव

अद्वैत अवस्था में बताया गया है यदि आध्यासिक सम्बन्ध से द्वैत होगा। तभी उसकी निवृत्ति हो सकेगी अन्यथा उक्त दोषों का रहना अनिवार्य है। कितने विद्वान जगत को माया परिणाम न मानकर ब्रह्म का ही परिणाम मानते है माया (सर्वभवनसामर्थ्य) केवल जगत रूप होने में ब्रह्म को उन्मुख करती है परिणाम ब्रह्म का ही होता है। बहुत से श्रुति वाक्य ऐसे प्रतीत भी होते हैं जैसे 'आत्मनंस्वयमकुरुत्त' आदि से आत्म कृतेः परिणामात्' इस सूत्र में भी ब्रह्म परिणामवाद की सिद्धि की गई है तथापि परिणाम जड़ का ही होता है चेतन का परिणाम अदृष्ट है। उपनिषद् में कहे हुये मृतिका सोना आदि के दृष्टान्त उक्त रीति से विवर्त पक्ष को ही बताते हैं इन्हें अविकृत परिणाम कहना असंगत है। इस पर यह समाधान होता है कि रज्जु सर्प का दृष्टान्त सीपी में रजत की प्रतीति आदि ही विवर्त पक्ष के समर्थक हैं सोने में आभूषण मृत्तिका घट आदि का दृष्टान्त अविकृत परिणाम पक्ष के हैं। रज्जु के ज्ञान से सर्प की निवृत्ति हो जाती है परन्तु सोने या मृतिका ज्ञान से आभूषण या घट निवृत्ति नहीं होते इसलिये अविकृत ब्रह्म परिणाम संयुक्त ही है। परन्तु अधिष्ठान मृत्तिका सोना आदि के साथ उनके कार्य निवृत्त न होकर प्रतीत होते रहते हैं इतने मात्र से विवर्त पक्ष की असिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि प्रतीत होना सत्यत्त्व का नियामक नहीं है स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं पर वे प्रतीत होते हैं इसी प्रकार घट आभूषण आदि को भी समझना चाहिये । आकाश में नीलिमा भ्रमजन्य है

तथापि प्रतीत होती है इसलिये प्रतीत सत्यत्त्व का प्रयोजक नहीं है किन्तु बाध निश्चय ही कारण है। मृत्तिका या सोने में सत्यत्त्व निश्चय होने पर घट या आभूषणों में भ्रमजन्यत्व जानने पर भी आभूषण एवं घट की प्रतीति होती ही है। इन दोनों प्रकारों को निरुपाधिक भ्रम एवं सोपाधिक भ्रम कहते हैं श्री विद्यारण्य स्वामी ने इसे यों कहा है,—निवृत्तएश्यस्मात्ते तत्सत्यत्वमतिर्गता। ईदृङ निवृत्तिरेवात्र बोधजानत्वभासनम्। पुमानधो मूखोनीरे भाताप्यस्तिनवस्तुतः। नटस्थमर्त्यवत्त स्मिन नैवास्थाकस्यचित् क्वचित्। ईदृग्ब्रोधेपुमर्थत्व मतमद्वैतवादिनाम्। मृदरूपस्यपरित्यागात् विवर्तत्वं स्फुटं घटे। (प० द० अद्वैत ४६, ४७, ४८) अर्थात् ब्रह्मज्ञान होने पर जगत् की सत्यत्त्व बुद्धि का अभाव ही निवृत्ति है जगत की प्रतीति का अभाव नहीं जैसे मनुष्य जल के तट पर बैठ कर अपनी छाया को जल में देखते हुये भी सत्यत्वमति छाया में न करके अपने देह में ही करता है छाया की प्रतीति मिथ्या होने पर भी तथा ऐसा ज्ञान होने पर भी उसकी प्रतीति होती ही रहती है ऐसा ही ज्ञान अद्वैत मत में मोक्ष का हेतु है। मृत्तिका के रूप का परित्याग न करते हुये घट में विवर्वत्त्व सिद्ध है अतः ये दृष्टान्त भी विवर्त पक्ष के ही हैं। श्रुतियों में एवं सूत्र में ब्रह्म परिणामवाद माया ब्रह्म के अभेद को स्वीकार करके ही है। इसी अर्थ में 'स्व' शब्द का प्रयोग है चेतन के परिणाम नहीं हैं 'एकोहं बहुस्याम' इस श्रुति में एक की अनेकता मायिक ही है क्योंकि वास्तविक एक ही है अनेक नहीं, एक की अनेकत्त्व प्रतीति

भ्रमजन्य ही है। कोई कोई विद्वान द्वैताद्वैत दोनों को सत्य मानते हैं 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्' (वे० ३-२-२७) जैसे सांप में कुण्डलित्त्व तथा अकुण्डलित्त्व दोनों यथार्थ हैं, ऐसे ही द्वैत अद्वैत दोनों सत्य हैं श्रुति में द्वैत अद्वैत दोनों निर्देश उपलब्ध होते हैं तथापि अद्वैत ही परमार्थ है एक पदार्थ में दो विरोधी धर्म एक काल में नहीं रह सकते जैसे अग्नि में उष्णत्त्व और शीतलत्त्व का होना ऐसा ही द्वैताद्वैत है दोनों को परमार्थत्त्व नहीं हो सकता 'अरूपवदेव हितत्प्रधानत्वात्' इस सूत्र से अद्वैत को ही परमार्थत्त्व है। सूत्रार्थ की संगति इस प्रकार लगती है सर्प में कुण्डलित्त्व एवं अकुण्डलित्त्व दोनों आपेक्षिक हैं अर्थात् अकुण्डलित्त्व काल में कुण्डलित्व नहीं एवं कुण्डलित्त्व में अकुण्डलित्त्व नहीं परन्तु सर्पत्त्व दोनों अवस्थाओं में अनुगत है इसलिये अद्वैत परमार्थ एवं द्वैत कल्पित है इम प्रकार की संगति यथार्थ है। कितने विद्वान विशिष्टाद्वैत मानते हैं जीव, प्रकृति ब्रह्म के विशेषण और ब्रह्म विशेष्य है परन्तु विशेषण भेदक होने से जीव, प्रकृति रूप विशेषण ब्रह्म से भिन्न पदार्थ की अपेक्षा रखते हैं जैसे लाल कपड़ा कहने से लाल गुण विशेषण ने काले कपड़े से लाल कपड़े को भिन्न किया इसी तरह जीव प्रकृति विशेषणों ने ब्रह्म को किससे भिन्न किया ? यदि कोई अन्य पदार्थ मानते हैं तो अपसिद्धान्त होगा नहीं मानते हैं तो विशेषण विशेष्य भाव ही असिद्ध है। यदि असत् से भिन्न माने तो असत भी सत हो जायगा वास्तव में असत कोई वस्तु ही

नहीं है जिससे भेदकता सिद्ध हो सके अतः वैशिष्टय मत असिद्ध है। इस मत में भी भेदाभेद माना गया है। माधवाचार्य ने तो इसे जैनों के अनेकान्तवाद में कहा है। विशिष्ट अद्वैत मानते हुये भेदकभेद्यभाव मानना वह तो व्याघात है। वास्तव में यह मत भी एक प्रकार का द्वैती ही है। द्वैत का विचार द्वैतविचार प्रकरण में किया जायगा। परिशेषात् मायावाद रह जाता है वही वेदान्त का सिद्धान्त सिद्ध होता है बहुत से लोगों ने इसे नवीन बताया है परन्तु यह मत भ्रम मूलक है। इसे दिखाते हैं। महर्षि व्यास योग भाष्य में कहते हैं 'तावेतौभोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ-बुद्धावेववर्तमानौ कथंपुरुषेव्यपदिश्येते—एतेनग्रहणधारणोहापोह तत्त्वज्ञानाभिनिवेशाबुद्धौवर्तमाना पुरुषेऽध्यारोपितसदभावाः' (सा० पा० १८) इस वचन में अध्यासवाद स्वीकार किया गया है। कैवल्य पाद के तेरहवें सूत्र के भाष्य में षष्टि तन्त्र का एक श्लोक दिया गया है उसमें माया स्वरूप बताया गया है 'गुणानां-परमंरूपंतद्दृष्टिपथमृच्छति। यत्तुदृष्टिपथंप्राप्तं तन्मायेवसृतु-च्छकम्' अतः वेदान्त का अध्यास एवं मायावाद में सांख्ययोग से भी प्राचीन है यह सिद्ध होता है। प्रश्नोपनिषद 'नयेषुजिह्म-मनृतंनमायाचेति' कहा गया है। श्री विद्यारण्य स्वामी ने माया-वाद का प्रतिपादन इस प्रकार किया है 'तुच्छानिर्वचनीयाचवा-स्तवीचेत्यसौत्रिधा। ज्ञेयामायात्रिभिभदैःश्रौतयौक्तिकलौकिकैः' (प०चि०दी०१३०) अर्थात् श्रुति में 'एकमेवाद्वितीयम्' ऐसा प्रति-पादन होने से माया तुच्छ (मिथ्या) है। तर्क से अनिर्वचनीय

सिद्ध होती है। सत् असत दोनों रूपों से निरूपण न होने से अनिर्वचनीय है। व्यावहारिक दृष्टि से माया कार्य सत्य हैं क्योंकि अद्वैत अनुभव के पूर्व सभी माया कार्य सत्य एवं प्रामाणिक है यह श्रुति स्मृति में स्वीकार किया गया है। वेदान्त में सृष्टि का परिणाम भी उपादान माया ही है यह पहले कहा जा चुका है। जैन, बौद्ध और नैय्यायिक मतों में परमाणुवाद एवं सांख्य योग में प्रकृति या प्रधानवाद माना गया है। इन्हीं तीनों रीतियों में सृष्टि व्यवस्था की गई है। वेदान्तियों ने परमाणुवाद एवं प्रधानवाद को अश्रौत बताया है 'एतेनशिष्टापरिग्रहाअपिव्याख्याता:' वे० २-१-१२ इस सूत्र में तथा वेदान्त दर्शन के द्वितीयाध्याय दूसरे पाद में भाष्यकार तथा स्वयं सूत्रकार ने इसकी आलोचना की है। उसका संक्षिप्त सार मात्र यहां देते हैं। परमाणु अनेक निरवयव और नित्य हैं ऐसा अणुवादियों का मत है इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि अनेकता में नित्यता नहीं रहती। नित्यत्त्व और एकत्त्व ही नित्य समवायी हैं। निरवयव परमाणु का संयोग नहीं हो सकता, संयोग सावयव का ही होता है। निरवयव परमाणु से सावयव जगत नहीं उत्पन्न हो सकता। यदि ऐसा माने तो 'कारण गुण पूर्व को हि कार्यगुणो दृष्ट:' कारण के गुण कार्य में आते हैं यह नियम नहीं रहता। पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच गुण रहते हैं, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार गुण, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन ही गुण वायु में शब्द, स्पर्श और आकाश में केवल शब्द ही

रहता है । इन पदार्थों में गुणों की कमी बेशी जो देखने में आती है इनके परमाणुओं में भी ऐसा ही तारतम्य है या नहीं ? यदि है तो एक की अपेक्षा से अन्य परमाणुओं में स्थूलता होने से परमाणुत्व की हानि होगी। यदि नहीं कहा जाय तो गुणों में विषमता क्यों हुई ? अतः परमाणुवाद असंगत है। प्रकृति को सांख्यवादी ने विभु (व्यापक) माना है। 'सर्वत्र कार्य दर्शनात् विभुत्वम्' (सां० द० ६, ३६) इसलिये सदैव संयोग रहने से पुरुष का असङ्गत्व नहीं होगा। प्रकृति जड़ है इसलिये स्वतन्त्र रूप से जगत नहीं बन सकती, क्योंकि चेतन बिना जड़ को कर्तृत्व असिद्ध है। यदि बछड़े के लिये जैसे गाय के स्तन से जड़ दूध का स्राव होता है ऐसा कहें तो यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि चेतन विशिष्ट गाय से ही दूध का स्राव होता है केवल जड़ से नहीं, यदि ऐसा हो तो मरी गाय से भी दूध निकलना चाहिए। यदि प्रकृति का स्वभाव ही ऐसा है माना जाय तो प्रकृति प्रवृत्ति-स्वभाव वाली है या निवृत्ति स्वभाव वाली ? यदि प्रवृत्ति स्वभाव माने तो सर्वदा सृष्टि ही होगी, निवृत्ति स्वभाव मानने से कभी सृष्टि नहीं हो सकेगी। इत्यादि युक्तियां इन दोनों वादों के विषय में दी गयी हैं इससे चार्वाक मत का स्वभाववाद भी खण्डित होता है। अतः विवर्तपक्ष को ही संयुक्तता इस पक्ष में मानी गई है।

ख्याति निरूपण—७

जगत की रचना का निरूपण दार्शनिक गण भिन्न–भिन्न रूप से करते हैं उसे ही ख्याति कहते हैं। ये ख्यातियां कई प्रकार

की हैं इनका संक्षेप से परिचय देते हुये वेदान्तियों की अनिर्वच-नीयख्याति को दिखाते हैं १—शून्यवादी माध्यमिक का कहना है कि जैसे रज्जु में सर्प असत् है इसी प्रकार अन्यत्र भी नहीं है। इसी असत् सर्प का रस्सी में अनुभव होता है कि 'यह सर्प है' इसे ही असत् ख्याति कहते हैं। तान्त्रिक भी असत् ख्याति मानते हैं तथापि उनके मत में समस्त पदार्थ असत् नहीं हैं। २—क्षणिक विज्ञानवादी आत्मख्याति मानते हैं। उनके मत में शरीर के अन्दर जो विज्ञान है वही आत्मा है। उसी में सब पदार्थ रहते हैं, उससे भिन्न रस्सी या अन्यत्र किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। सब पदार्थों का रूप बुद्धि ही धारण करती है और वह क्षणिक विज्ञान रूप है अर्थात् प्रति क्षण में उत्पत्ति विनाशशील है। इस प्रकार रस्सी में सर्प की प्रतीति आत्मख्याति है। ३—नैय्यायिक, वैशेषिक, जैन मतों में अन्यथा ख्याति मानी जाती है—भ्रम ज्ञान का विषय सर्प रज्जु में नहीं है, सत्य सर्प अन्यत्र है वही नेत्रादि के दोष से रस्सी में प्रतीत हो रहा है। सर्प और रस्सी में समानता होने से अन्य देश में रहे हुये सर्प की स्मृति होती है और नेत्र-दोष से सम्मुख पड़ी हुई रस्सी में प्रतीति होता है। अन्य देश में रहे हुये सांप की अन्यत्र रज्जु में प्रतीति ही अन्यथा ख्याति है। नव्य नैय्यायिक चिन्तामणिकार का मत है कि अन्य देश में स्थित वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, रस्सी का स्वरूप से अनुभव न होना ही अर्थात् रस्सी का रस्सी रूप से प्रतीत न होकर सर्प रूप से मालूम पड़ना ही अन्यथा ख्याति है, क्योंकि विशेषण के भ्रम से ज्ञान

भ्रान्त होता है। ४—सांख्य प्रभाकर और एक देशीय मीमांसक अख्याति मानते हैं जिसे इस प्रकार कहते हैं—जहां रस्सी में सर्प की भ्रांति होती है वहां नेत्र का अपनी वृत्तिद्वारा रस्सी से संबंध होकर 'इदम्' यह रूप से रस्सी का सामान्य ज्ञान होता है और सर्प की स्मृति होती है। 'इदमंश' तो रस्सी का सामान्य प्रत्यक्ष है और 'सर्प है' यह ज्ञान स्मृति है, यहां पर दो ज्ञान हैं। परन्तु ज्ञाता को ठीक ज्ञात न होने से भय कम्प आदि दोष उसमें होने से अन्धकारादि दोष नेत्र में होने से पुरुष को यह विवेक नहीं होता कि मुझे दो ज्ञान हुये—इसे ही ये भ्रम कहते हैं, यही अख्याति है। मीमांसक कहते हैं कि सभी ज्ञान यथार्थ हैं, भ्रम ज्ञान होता ही नहीं, इसलिये भ्रम स्थान में 'यह सर्प है' इस प्रकार के विशिष्ट भ्रम में कोई प्रमाण नहीं है इसे ही अख्याति कहते हैं। ५—कई दार्शनिक सत् ख्याति मानते हैं। उनका ऐसा कहना हैं—रस्सी को आरम्भ करने वाले अवयवों के साथ सर्प के आरम्भक अवयव मिले रहते हैं। जिस प्रकार रस्सी के अवयव सत्य हैं ऐसे ही सांप के भी हैं, जब दोष दूषित नेत्र का उन अवयवों में संयोग होता है तब वे अवयव सत्य सदृश सर्प को उत्पन्न करते हैं। इसीलिए सर्प की सत्यता को विषय करने वाली यह सत्ख्याति है 'यह सर्प सत्य है' इस प्रकार का सत्य प्रमाण होता है और रस्सी के ज्ञान से सत्य सर्प का अपने अवयवों में ध्वंस होता है यह सत्ख्याति का स्वरूप है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वादियों ने ख्यातियों का स्वरूप बताया है। अतएव अब इनकी परीक्षा करते हैं कि इनमें कौन यथार्थ है,

क्योंकि एक विषय में विरुद्ध नानाकथन सत्य नहीं होते । १—असत् ख्याति इसलिये मन्तव्य नहीं है कि असत् पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता, यदि ऐसा है तो आकाश पुष्प, वन्ध्यापुत्र का भी ज्ञान होना चाहिये । असत् जब कोई वस्तु ही नहीं तो उसका ज्ञान ही कैसे होगा इसलिये असत् ख्याति अयुक्त है । २—आत्मख्याति भी त्याज्य ही हैं क्योंकि इस मत में रस्सी में दिखने वाला सर्प बुद्धि में ही माना जाता है । यह मत तर्क प्रमाण से शून्य है क्योंकि प्रत्येक पुरुष को बाहर रस्सी में सर्प का प्रत्यक्ष होता है । यदि सर्प भीतर बुद्धि में ही होता तो बिना नेत्र के भी प्रतीत होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं है । इसलिये यह आत्मख्याति अयुक्त है । ३—अन्यथा ख्याति इसलिये अयुक्त है कि भ्रमज्ञान के विषय सर्प को अन्य देश में माना जाय तो नेत्र संयोग नहीं होगा और नेत्र विषय के सम्बन्ध बिना बाह्य किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु सर्प का अनुभव प्रत्यक्ष है । ४—अख्याति इसलिये दूषित है कि प्रथम देखे हुए सर्प का स्मरण ही माना जाय और सम्मुख रस्सी देश में सर्प का ज्ञान ही माना जाय तो भय से जा भागना होता है वह न होना चाहिये, रस्सी का विशेष रूप से ज्ञान होने पर मुझे सर्प की मिथ्या प्रतीति रस्सी में हुई थी ऐसे बोध से भी रस्सी में सर्वथा सर्प की पूर्व स्मृति नहीं 'यह सर्प है' यहां एक ही ज्ञान है, दो नहीं, क्योंकि एक काल में स्मृति रूप तथा प्रत्यक्ष दो ज्ञान एक अन्तःकरण से नहीं हो सकते । एक देशी मीमांसक का मत इसलिये अयुक्त है कि इस मत में सभी ज्ञान

यथार्थ है। यद्यपि स्वरूप से ज्ञान यथार्थ है विषय के बाध 'मिथ्यात्त्व' से ज्ञान को भी मिथ्यात्त्व है। जब ज्ञान का विषय बाधित होता है तब अयथार्थत्त्व है, सर्पज्ञान का बोध होता है यदि वह सत्य हो तो न होना चाहिये, यदि सत्य का बाध माने तो रस्सी का भी बाध होना चाहिये। ५—सतख्याति भी यथार्थ नहीं है क्योंकि इस मत में रज्जु से भिन्न सर्प के भी अवयव रज्जु में रहते हैं, उसमें से ही सर्प निकलता है और नष्ट हो जाता है, परन्तु यह कथन अनुभव विरुद्ध है। यदि रज्जु में भिन्न सर्प के अवयव हों तो भ्रम रहित काल में भी प्रतीत होने चाहिए ऐसा न होने से इसकी असंगति स्पष्ट है। इस प्रकार के परीक्षण में उक्त सभी ख्यातियों का अयथार्थत्त्व सिद्ध हो गया। इनसे भिन्न वेदान्तियों ने अनिर्वचनीय ख्याति मानी है, वही यथार्थ एवं संयुक्त है, इसलिए उसका प्रतिपादन क्रम दिखाते हैं:—सर्प की उत्पत्ति की जो लौकिक सामग्री अवयव आदि हैं वह सामग्री भ्रम के सर्प में नहीं है, लौकिक सामग्री से भिन्न सामग्री सर्प को उत्पन्न करती है इसलिये उसे भ्रम कहते हैं सत्य सर्प के अनुभवजन्य संस्कार वाले पुरुष की नेत्र इन्द्रिय द्वारा अन्तःकरण की वृत्ति बाहर निकल कर रस्सी देश में जाती है और उससे सम्बन्ध होता है परन्तु जब तिमिरादि दोष प्रतिबन्धक होते हैं, तब वृत्तिका स्वरूप रस्सी के समानाकार नहीं होता इसलिये रस्सी के चेतन के आश्रय रहा हुआ आवरण का भङ्ग नहीं होता। जब आवरण भङ्ग नहीं होता तब रस्सी के चेतन में स्थित अविद्या में क्षोभ होकर अविद्या

समानाकार परिणाम को प्राप्त होती है । यदि अविद्या-कार्य सत् हो तो रज्जु-ज्ञान से उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये । परन्तु रस्सी के ज्ञान से उसका बाध हो जाता है इसलिये सत् नहीं है । यदि असत् हो तो वन्ध्या पुत्र के समान प्रतीत न होना चाहिये तथापि प्रतीत होता है इसलिये असत् भी नहीं है । सत् असत् से विलक्षण होने से इसे ही अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं । अविद्या के तमोंश के क्षोभ का परिणाम सर्प है और सत्वगुण के अंश के क्षोभ का परिणाम सर्प का ज्ञान है । इस प्रकार सर्प और उसका ज्ञान दोनों अनिर्वचनीय हैं । यह अविद्या का परिणाम और चेतन का विवर्त है । विवर्त और परिणाम पहले बताये जा चुके हैं । इसी प्रकार यह दृश्यमान प्रपञ्च भी अनिर्वचनीय है । जैसे सर्प की उत्पत्ति न होते हुये भी भ्रम से उत्पत्ति एवं प्रतीति होती है इसी प्रकार जगत् की वास्तविक उत्पत्ति न होते हुये अज्ञान से प्रतीति हो रही हैं । सर्प भ्रान्ति का है परन्तु प्रतीतिकाल में वैसा मालूम नहीं होता यदि प्रतीति काल में यह ज्ञान हो कि सर्प भ्रान्ति का है तो भय कम्प आदि न होना चाहिए, सच्चे सर्प से ही भय कम्प होते हैं, झूठे से नहीं । परन्तु झूठे को भी जब तक सत्य मानते हैं तब तक भय कम्प होता ही है । रस्सी में सर्प के समान यह सारा प्रपञ्च स्वरूप के अज्ञान से ही भासित होता है । वास्तविक न होते हुये भी जन्म मरण आदि का हेतु है । वास्तव में तो जगत हुआ ही नहीं, केवल माया से प्रतीत हो रहा है । रस्सी की तरह ब्रह्म निर्विकार है ।

द्वैत विचार–८

पूर्व प्रकरणों में अद्वैत सिद्धान्त का वर्णन उपनिषदों के अनुसार बताया गया, उपनिषदों में द्वैत का निरूपण भी पर्याप्त मात्रा में है इसलिये बहुत से विद्वानों ने उनका आश्रय लेकर स्वतन्त्र रूप से द्वैतवाद को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है तथा अद्वैत प्रतिपादक वचनों को भी द्वैत का ही अङ्ग सिद्ध किया है। इसलिए द्वैत के प्रतिपादक वाक्यों का अभिप्राय जब तक अद्वैत मत में संगत नहीं होता तब तक अद्वैत की सिद्धि पूर्णतः नहीं हो सकती। इसलिये इस प्रकरण को यहाँ कहते हैं–श्रुति कहती है 'द्वासुपर्णासयुजासखायासमानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अश्नन् अन्योअभिचाकशीति' मु० ३–१–१ अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी सख्य भाव से परस्पर मिले हुये बैठे हैं उनमें से एक वृक्ष के फल को खा रहा है दूसरा केवल देखता ही है। इस रूपक से जीव, ईश्वर और संसार इन तीनों वस्तुओं का ग्रहण होता है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में कहा है—'ऋतंपिवन्तौसुकृतस्यलोके गुहांप्रविष्टौपरमेपरार्द्धे, (१-३-१) इससे भी जीव ईश्वर का भाव लिया गया हे 'ज्ञाज्ञाद्वाजावीशावजाह्ये काभोक्तृभोगार्थयुक्ता अनन्तश्चात्मा विश्वरूपोह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। (श्वे० १-९) अर्थात् प्रकृति, जीव, ईश्वर इन तीनों का ग्रहण भोक्ता एवं नियन्ता रूप से किया गया है इत्यादि वैदिक वचनों से स्वतन्त्ररूप से द्वैतवादी आचार्यों ने द्वैतवाद को सिद्ध किया

है और भेद को नित्य बताया है। ऐसा मानने पर अद्वैत श्रुतियां गौण हो जाती हैं इसलिये अद्वैतमतानुसार द्वैत की संगति कैसे लगती है इसे यहां बताते हैं। सृष्टि के पहले जब एक ही अद्वैत तत्त्व त्रिविध भेद शून्य (स्वगत्, सजातीय और विजातीय जैसे वृक्ष में पत्र पुष्पादि द्वारा स्वगत भेद है, अन्य वृक्षों से सजातीय भेद तथा शिला पाषाण आदि से विजातीय भेद होता है। ऐसे ही ब्रह्म के अवयव न होने से स्वगत, अन्य ब्रह्म न होने से सजातीय तथा असत् तुच्छ होने से विजातीय भेद भी नहीं है) स्वतः सस्फूर्तिमान् था और अपनी माया शक्ति से जब उसने अनेक रूप धारण करने का विचार किया तो उसकी माया समष्टि और व्यष्टि से विभक्त हुई। समष्टि एक तथा व्यष्टि अनेक हैं, समष्टि में शुद्ध रूप सत्त्व एवं व्यष्टि में मलिन सत्त्व है, इसे ही अविद्या कहते हैं। समष्टि को विद्या भी कहते हैं अर्थात् माया अपनी इन दोनों शक्तियों से जीव और ईश्वर के स्वरूप को बनाती है। यह भेद घटाकाश एवं मठाकाश की तरह औपाधिक हैं, स्वाभाविक या नित्य नहीं ऐसा द्वैत मानकर उक्त द्वैत प्रतिपादक वचनों की संगति लगाई जाती है। ऐसे भेद के मानने से अद्वैत में किसी प्रकार की क्षति नहीं होती तथा लौकिक व्यवहार भी सिद्ध होते हैं। इस विषय पर यह आशङ्का की जाती है कि जो पदार्थ कल्पित हो वह किसी व्यवहार का नियामक कैसे हो सकता है? परन्तु यह बात ऐसी नहीं है। मिट्टी में तथा स्वर्ण में बर्तन एवं आभूषणों की कल्पना से लोक में व्यवहार होता है,

जैसे घट कटक कुण्डलादि व्यवहार अवस्था में कहे ही जाते हैं । परमार्थ में मिट्टी, सुवर्ण ही केवल सत्य है । कार्य की सत्ता कारण से भिन्न नहीं है । इसी अकार द्वैत की स्वतन्त्र सत्ता नहीं । इसी प्रकार माया कल्पित भेद मानकर व्यवहार की सिद्धि होती है । जब तक अद्वैतानुभव नहीं होता तब तक द्वैत प्रमाण ही है । कहा है–'देहात्मप्रत्ययोयद्वत्प्रमाणत्वेनकल्पितः । लौकिकंतद्वदेवेदप्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्' जब तक अद्वैत का निश्चय नहीं होता तब तक लौकिक प्रमाणों से देह गेह में आत्मेप्रत्यय (ज्ञान) एवं आत्मीय प्रत्यय प्रमाण ही है । क्योंकि श्री गौडपादाचार्य ने कहा है 'अनादिमाययासुप्तोयदाजीवःप्रबुध्यते । अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतंबुद्ध्यतेतदा' अनादि माया में सोया हुआ जीव जब यथावत् स्वरूपानुभव प्राप्त कर लेता है तब अद्वैत, अनिद्र अस्वप्न स्वरूप वाला अपने को जानता है । 'यत्र द्वैतमिवभवति' इत्यादि श्रुति से भी द्वैत की स्थिति अवास्तविक एवं अद्वैत को परमार्थत्त्व सिद्ध होता है इसके अतिरिक्त उपनिषद के वाक्य द्वैत की निन्दा एवं अद्वैत की प्रशंसा भी करते हैं 'मृत्योः समृत्युप्राप्नोति यइहनानेवपश्यति' (क० ४, ४, १९) वह पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है जो आत्मा में भेद देखता है । नेहनानास्ति किंचन' क० २–४–११ आत्मा में नानात्व नहीं है । दूसरी श्रुति में कहा—'अन्योऽसावन्योहमस्मिइतिनस वेद यथा पशुः' (वृ० १-४-१०) अपने से भिन्न रूप से जो उपासना करता है अर्थात् द्वैत दृष्टि रखता है वह पशु है, उसे यथार्थ ज्ञान नहीं है । द्वैत से भय होता है 'द्वितीया द्वैभयंभवति' इन वचनों से

यह निश्चय होता है कि उपनिषदों में द्वैत होते हुये भी सिद्धान्त अद्वैत ही है। इसलिये 'द्वासुपर्णी' 'ऋतं पिवन्तौ' आदि श्रुतियों से स्वतन्त्र द्वैत कल्पना असंगत है। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' ये अद्वैत के प्रशंसा के वाक्य हैं। महाभारत में भी कहा है 'आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः। तदेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः' म० भा० शा १८७-२३। प्रकृति के गुणों से युक्त आत्मा क्षेत्रज्ञ तथा उससे रहित होने पर परमात्मा कहा जाता है। 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी० १३-२) मुझ परमात्मा को ही क्षेत्रज्ञ जानो। 'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ताभोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।' इस गीता के श्लोक में भी जीव ब्रह्म का अभेद बतलाया गया है। भगवान संनत्कुमार ने स्पष्ट रूप से द्वैत की निन्दा की है। 'अथयेऽन्यथातोविदुरन्यराजानस्तेक्षय्य-लोकाभवन्ति तेषांसर्वेषुलोकेष्वकामचारोभवति' छा० ७-२५-२ इन प्रमाणों से द्वैत मिथ्यात्त्व स्पष्ट होता है। परमात्मा की सत्ता स्फूर्ति लेकर माया जगत रचना करती है 'जीवाभासेनकरोति' 'माया चाविद्या च स्वयमेवभवति' (न० उ० त०) माया ही परब्रह्म के आभास द्वारा जीव ईश्वर की कल्पना करती है तथा माया एवं अविद्या के भेद से दो प्रकार की हो जाती है। इसी श्रुति के आशय को पंचदशी में यों कहा गया है—'चिदानन्द-मयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता। तमो रजःसत्त्वगुणाप्रकृतिर्द्विविधा-चसा। सत्त्व शुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्येचतेमते। माया बिम्बं

वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः । अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचि त्र्याद नेकधा—। (प० तत्त्व० १५, १६, १७) इन श्लोकों का अर्थ स्पष्ट है । पहले यह कहा गया है कि ब्रह्म का निर्गुण रूप माया से रहित होने के कारण शुद्ध एवं निष्क्रिय है । वही जब माया से सबल होता है तब कारण कहा जाता है उसे ही अन्तर्यामी या ईश्वर भी कहते हैं । शुद्ध तत्त्व में प्रतिबिम्बित को ईश्वर और मलिन सत्त्व में प्रतिबिम्बित को जीव कहते हैं । ऐसी स्थिति का वर्णन पंचदशी के श्लोकों में तथा उक्त श्रुति में आया है । माया ईश्वर में सर्वज्ञ सर्व शक्ति आदि धर्मों की कल्पना करती है तथा अविद्या जीव में इससे विपरीत भाव प्रकट करती है । जीव का लक्षण ऐसा किया गया है—'चैतन्यंयदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्चयः पुनः चिच्छायलिङ्ग देहस्थातत्सङ्घोजीवउच्यते' (प० द्वैत० ११) अविद्या का अधिष्ठान चेतन (कूटस्थ) सूक्ष्म शरीर और अविद्या चेतन का आभास ये सब संघीभूत जीव कहा जाता है । वही जीव सुषुप्ति का अभिमानी होने से प्राज्ञ, स्वप्न का तैजस तथा जाग्रत का विश्व संज्ञा से कहा जाता है । इसी तरह ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् नाम से कहा जाता है । कई मतों में जीव का परिमाण अणु माना गया है पर अद्वैत मत में आभास, प्रतिबिम्ब एवं अवच्छेद रूप से माना जाता है । जैसे जल पूर्ण अनेक घड़ों में सूर्य का प्रतिबिम्ब सूर्य से भिन्न दिखता है इसी प्रकार अनेक उपाधियों में चेतन का आभास ही जीव है उसे ही अंश रूप से कल्पना करके भी कहा गया है—ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः

सनातनः । गी० १५–७ इस श्लोक में हमारा अंश कर्ता भोक्ता रूप से जीव है ऐसा कहा गया है । इस श्लोक के भाष्य में आचार्य ने कहा है 'यथा जलसूर्यकःसूर्यांशो जलनिमित्तापाये सूर्यमेवगत्वा न निवर्तते तेनैवात्मनासंगच्छत्येवमेव यथा वा घटाद्युपधि परिच्छिन्नो घटाद्याकाश आकाशांशः सन् घटादिनिमित्तापाये आकाशं प्राप्य न निवर्तते' (गीता शाङ्कर भाष्य) जैसे सूर्य का जल में दिखने वाला प्रतिबिम्ब जल के न रहने पर सूर्य में ही लीन हो जाता है ऐसे ही जीवात्मा भी परमात्मा का अंश परमात्मा की प्राप्ति होने पर फिर नहीं लौटता अर्थात् उससे अभिन्न हो जाता है अथवा घटाकाश घटोपाधि नष्ट होने पर जैसे महाकाश स्वरूप हो जाता है ऐसा ही जीव हमारा अंश है इससे अवच्छेद, आभास या प्रतिबिम्ब मतों के स्वरूप को बताया गया है । श्रुति में भी कहा गया है 'घटसंवृतमाकाशंनीयमाने घटे यथा । घटो नीयत नाकाशं तथा जीवो नभोपमः' (अमृतबिन्दु) तथा प्रतिबिम्ब पक्ष भी कहा गया है । रूपं रूप प्रतिरोध बहिश्च, वेदान्त दर्शन में 'आभास एव च' वे० २, ३, ५० अर्थात् जीव परमात्मा का आभास ही है । इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है 'आभास एव चैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः' 'नसएवसाक्षान्नवस्त्वन्तरम्' अर्थात् यह जीवात्मा परमात्मा का जल में स्थित आभास की तरह आभास है । यह आभास उससे न भिन्न वस्तु है न वह ही जीव है । 'अतएवचोपमा सूर्यकादिवत्' (वे० ३-२-१८) इस सूत्र में प्रतिबिम्बवाद माना गया है । 'एकएवहिभूतात्मा

भूतेभूते व्यवस्थितः। एकधाबहुधाचैवदृश्यते जलचन्द्रवत्' (ब्रह्म वि० १२) एक ही आत्मा समष्टि, व्यष्टि उपाधियुक्त होकर अनेक प्रकार से जल में दिखने वाले चन्द्र प्रतिबिम्ब के सदृश दिख रहा है। इन उपर्युक्त प्रमाणों से ईश्वर एवं जीव का अद्वैत सम्मत स्वरूप प्रकट होता है। जैनों का जीव मध्यम परिमाण तथा जीवाणुवाद भी कई युक्तियों से खण्डन किया गया है विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखा जा सकता। यह द्वैत विचार संक्षेप से कहा गया इसी के अनुसार अद्वैतवादी व्यवहार की संगति लगाते हैं। जीव का परलोक गमनागमन भी द्वैत का ही विषय है, इसे यहां संक्षेप में बताते हैं—जीव इस भोगायतन स्थूल शरीर के छोड़ने के पश्चात् वेदविहित कर्मानुष्ठान जन्य स्वर्ग सुख भोगने के लिये परलोक में जाता है (इतने ही अर्थ में मीमांसा दर्शन चरितार्थ है) चन्द्रमा स्वर्ग का द्वार है, विहित कर्मों के प्रभाव से स्वर्गलोकानुसार उसे भोग्य शरीर की प्राप्ति होती है, जब तक उसके कर्म समाप्त नहीं होते तब तक वह स्वर्ग में रहता है, बाद में फिर इसी लोक में लौट आता है 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यास्मैलोकाय कर्मणे, इतिनुकामयमानः' क्रु० ४-४-६ इसके अतिरिक्त जो निष्काम होते हैं उन्हें यों कहा गया है—'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति' ४-४-६ अर्थात् जो कामना रहित निष्काम आत्मकाम एवं आप्तकाम है उनके प्राण किसी लोकान्तर में नहीं उत्क्रमण होते, यहीं ब्रह्म होकर तल्लीन हो

जाते हैं। 'पर्याप्तकामस्यकृतात्मनस्तु इहैवसर्वे प्रविलीयन्तिकामा:' मु० ३-२-२ पूर्ण काम की कामनायें यहीं लीन हो जाती हैं, इस लिए किसी लोकान्तर में उसे नहीं जाना पड़ता—इसे आगे लिखेंगे। इस प्रकार श्रुति से जीव का परलोक गमनागमन ज्ञात होता है। आजकल के बहुत से नवीन विचारक ऐसा मानते हैं कि वैदिक धर्म यह कल्पना उपनिषद युग की है, संहिता-काल की नहीं, तथापि यह कथन निर्युक्तिक हैं। स्वयं अथर्ववेद में अनेक मन्त्र इसके आये हैं 'पुनर्नपितरो मनोददातुदैव्योजनः। जीवं व्रातं सचेमहि (ऋ० सं० १०–५७–५ यजु० ३-५५) इस मन्त्र में परलोक गमनागमन माना गया हैं। वेदान्त दर्शन में 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहतिसम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् (वे० ३-१-१) इस सूत्र में विस्तार से यह प्रसंग कहा गया है। गीता में भी देवयान पितृयाण दो मार्ग बताये गये हैं 'शुक्ल कृष्ण' नाम की दो सनातन गतियां हैं जिनमें कृष्ण मार्ग से जाने वाले लौटते हैं और शुक्ल गति वाले नहीं लौटते ! इस विषय पर यह जिज्ञासा होती है कि शरीर छोड़ते ही जीव पुनः शरीर धारण करता है या कुछ काल तक प्रतीक्षा करता है क्योंकि कहा है 'तद यथातृणजलायुकातृणस्यान्तं गत्वा अन्यमाक्रममाक्रम्यात्मान-मुपसंहरति एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविधां गमयित्वा-न्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति' (बृ० ४-४-३) जैसे तृणज लौका (एककीडा) एक तृण पर से दूसरे पर जाता है और पहले तृण को छोड़ देता है इसी प्रकार जीव इस शरीर को छोड़ कर

दूसरे शरीर को धारण कर लेता है 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही' (गी० २-२२) जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर नये को धारण करता है इसी प्रकार जीव-पुराने शरीर को छोड़कर नये को धारण करता है श्रीमद्भागवत में भी कहा है—'व्रजन् तिष्ठन् पदैकेन यथा एकेन गच्छति। यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिगतः' भा० द० १०.१-४०। जैसे मनुष्य एक पांव से चलता है तथा दूसरे से स्थिर रहता है जैसे तृण जलूका एक घास पर से दूसरे पर जाती है इसी प्रकार जीव अपने कर्मों के अनुसार अन्य योनियों में गमन करता है। इन प्रमाणों से तत्काल ही अन्य शरीर की प्राप्ति जीव को होती है ऐसा ज्ञात होता है। तथापि इन वचनों का तात्पर्य तत्काल शरीर धारण में नहीं है। यदि ऐसा मानेंगे तो पंचाग्नि विद्या का क्रम जो छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक में कहा गया है उसकी अनुपपत्ति होगी क्योंकि आकाश से वायु, वायु से धूम फिर अभ्र, मेघ, औषधि तदनन्तर वीर्य रज से संयुक्त होकर ही दूसरा शरीर प्राप्त होता है। यदि तत्काल ही हो तो यह क्रम तथा पुराणों में कही हुई गतियां असंगत होंगी और तत्काल ही शरीर की प्राप्ति अनुभव से भी नहीं मालूम होती इसलिये इसकी संगति इस प्रकार लगाई जाती है। आगामी शरीर की प्राप्ति का भावावेश जीव के अन्तःकरण में आविष्ट हो जाता है जिससे भावि—योनि की प्राप्ति स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। जैसे कोई पुरुष दिल्ली से बम्बई जाने का

निश्चय करता है तभी उसके बम्बई जाने के भाव चित्त में भर जाते हैं और बम्बई उसे प्रत्यक्ष दिखने लगती है तथापि बम्बई जाने में उसे अनेक स्थानों में होकर जाना पड़ता ही है तथा देर भी लगती ही है, तत्काल ही नहीं पहुँचता, ऐसा ही शरीर त्याग के बाद पुनः शरीर धारण है। परलोक से लौटने पर स्वकर्म के अनुसार योनि प्राप्त होती है इसे श्रुतियां बताती हैं—रमणीयचरणारमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मण योनिंक्षत्रिय योनिं-वैश्य योनि वा' अथकपूयचरणा अभ्याशोहयत्तेकपूयां योनिमा-पद्येरन् श्वयोनिं सूकरयोनिं चाण्डालयोनिं वा' छा० २–१०–७ अर्थात् उत्तम कर्म करने वाले उत्तम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य योनि को प्राप्त करते हैं। नीच कर्म करने वाले कुत्ता, सूकर, चाण्डाल आदि नीच योनियों को प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त जो विहित कर्म, उपासना आदि नहीं करते वे इससे भिन्न गति प्राप्त करते हैं जिन्हें 'जायस्वम्रियस्व' छा० ५–१०–८ रूप से कहा गया है अर्थात् क्षुद्रयोनियों में बार-बार उत्पन्न एवं मरते हैं। इस प्रकार जीव अपने कृत कर्मानुसार आवागमन के चक्र में घूम रहा है। ये दोनों गतियां कर्म की हैं। उपासना से देवयान मार्ग से जाकर भी मुक्ति प्राप्ति होती है जिसे मुक्ति विचार नामक प्रसङ्ग में कहेंगे। इस प्रकार अद्वैत के अविरोधी द्वैत के मानने से अद्वैत वचनों की असंगति नहीं होती। स्वाभाविक द्वैत मानने से अद्वैत वचनों का विरोध स्पष्ट ही है। इस विषय पर यह आशंका होती है कि जब द्वैत कल्पित है तो व्यवहार के प्रतिपादक वेद,

गुरु आचार्य आदि कल्पित होने से मिथ्या होंगे अतः द्वैत को सत्य एवं नित्य ही मानना चाहिये। परन्तु यह बात ठीक नहीं है जो मुक्त नहीं हैं उनके प्रति ये सब चरितार्थ होने से सार्थक है अतः यह आशंका ठीक नहीं। पहले कहा जा चुका है कि लौकिक प्रमाण व्यवहार भूमि में यथार्थ ही है इसलिये वेद आदि की प्रमाणता ठीक ही है जो द्वैत को सत्य मानते हैं वे भी मुक्त आत्माओं के प्रति विधि निषेध का अधिकार नहीं मानते इसलिये यह आपत्ति समान ही है। अतः अद्वैत का समन्वय ही श्रौत एवं (संयुक्त) है।

पञ्चीकरण और पञ्चकोश—९

पूर्व प्रकरण में द्वैत का विचार किया गया। द्वैत का ही विषय पञ्चीकरण और पंचकोश का विषय है अतः इसके विचार के लिये यह प्रकरण लिखा जाता है क्योंकि सूक्ष्म विषयों से स्थूल भोग नहीं हो सकता बिना पंचीकरण के स्थूल सृष्टि नहीं हो सकती, इसी अभिप्राय से छान्दोग्य के छठवें अध्याय में त्रिवृत्करण का उपदेश दिया गया है 'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वतउपदेशात्' (वे० २-४-२०) संज्ञा, मूर्ति की रचना त्रिवृत्करण के उपदेश से परमात्मा के द्वारा ही सिद्ध होती है क्योंकि जीव में नागरूप जगत की रचना का सामर्थ्य नहीं हैं। यह त्रिवृत्करण वेदान्त दर्शन एवं उपनिषद में मिलता है, पंचीकरण का उपदेश नहीं मिलता है तथापि पंचभुत प्रतिपादक तैत्तरीय श्रुति का

छान्दोग्य के तीन भूत (तेज, जल, पृथिवी) के प्रतिपादक वचन से वियदधिकरण में एकता करके पंचभूतों का ही सिद्ध क्रम भगवत्पादाचार्य ने माना है इसलिये पंचीकरण स्वीकार किया गया है। श्री सुरेश्वराचार्य ने पंचीकरण ही माना है—पंचदशी में इसे इस प्रकार कहा गया है—'द्विधाविधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतर द्वियीयांशैयोजनात् पंचते' प० द० १-२७ अर्थात् प्रत्येक पंच महाभूतों को समान भाग में आधा आधा करके और शेष भूतों के आधे आधे अंशों को क्रमशः चार चार बराबर हिस्से करके अपने से भिन्न तत्त्वों में एक एक हिस्से में मिलाने पर पंचीं-करण होता है जिसका स्पष्ट विवरण निम्न नक्शे से ठीक समझ सकते हैं।

पृथिवी	जल	अग्नि	वायु	आकाश
१	१/२	१/२	१	१/२
१ जल	१/८ पृथिवी	१/८ पृथिवी	१ पृथिवी	१/८ पृथिवी
१/८ अग्नि	१/८ अग्नि	१/८ जल	१/८ जल	१/८ जल
१/८ वायु	१/८ वायु	१/८ वायु	१/८ अग्नि	१/८ अग्नि
१ आकाश	१/८ आकाश	१/८ आकाश	१/८ आकाश	१/८ वायु

इस प्रकार ऊपर लिखे हुये क्रम से माया के तमो अंश से उत्पन्न पंचभूतों से स्थूल पंचीकरण कार्य होने पर यह भूत भौतिक नाना दृश्यों से सम्पन्न जगत प्राणियों को स्थूल भोग देता है अपंचीकृत पंच भूतों के राजस अश से पंच प्राण, पंचकर्मेन्द्रिय होती हैं। सत्त्व अंश से पंच ज्ञानेन्द्रिय मन एवं बुद्धि उत्पन्न होती हैं जिनसे जीवात्मा प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रधानवादी सांख्य, नैय्यायिक पंचीकरण नहीं मानते हैं वेदान्तियों ने परस्पर पंचभूतों के गुणों को प्रत्येक भूतों में देखकर ही इसे अंगीकार किया है जैसे शब्द आकाश का गुण है तथापि वायु में वी सी यह शब्द होता है, जल में 'बुलबुल' पृथिवी में 'कड़कड़' अग्नि में 'भकभक' इत्यादि परस्पर गुणों का बर्ताव-क्रम पंचदशी के महाभूत-विवेक प्रकरण में विस्तार के साथ कहा गया है। कई आधुनिक मतों में पंचीकरण नहीं माना जाता है परन्तु 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद:' वे० २-४-२३ इस सूत्र में पंचीकरण माना गया है। यह इस विषय का सार है।

तैत्तरीयोपनिषद में पंचकोशों के निरूपण द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है तथा आनन्दमयाधिकरण में यही विषय सूत्रकार एवं भाष्यकार ने विस्तार के साथ लिखा है उसका अभिप्राय संक्षेप में इस प्रकार है—कोश शब्द का अर्थ आवरण है। आत्मा पांच आवरणों से ढका हुआ है जिन्हें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय के नाम से कहते हैं। अन्न के विकारों से परिवर्धित यह शरीर अन्नमय

कोश है, अन्नमय से भीतर प्राणमय कोश है जिसमें पंचकर्मेन्द्रिय तथा पंचप्राण हैं। इसके आगे मनोमय कोश है जिसमें पंचज्ञाने-न्द्रियां एवं मन है, इसके परे विज्ञानमय कोश है जिसमें पंचज्ञाने-न्द्रिय एवं बुद्धि है। इसके आगे आनन्दमय कोश है इसे ही कारण या अविद्या कहते हैं यहां पर जीव सुषुप्ति सुख को अनुभव करता है। अन्तःकरण का लय होकर यहाँ एक मात्र आनन्द का अनुभव होने से इसे आनन्दमय कोश कहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों में ही ये पाँचों कोश हैं, स्थूल शरीर अन्नमय कोश हैं सूक्ष्म शरीर में, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश हैं आनन्दमय कोश कारण शरीर में है। इन पाँचों कोशों के परे 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' अर्थात् ब्रह्म इन पांचों कोशों से परे हैं लय चिन्तन के अभ्यास से ब्रह्मानुभूति ज्ञानी को होती है ब्रह्मात्मैक्यबोध से अविद्या निवृत्ति का हेतु कोश ज्ञान है अतः यहां उसका संक्षिप्त परिचय दिया गया।

महावाक्य विचार—१०

वेदान्त शास्त्र के समस्त वाक्य साक्षात् तथा परम्परा सम्बन्ध से ब्रह्म में ही तात्पर्य रखते हैं ऐसा वेदान्ताचार्य कहते हैं। वाक्य दो प्रकार के हैं अवान्तर तथा महा वाक्य, जिनसे सामान्य रीति से परोक्ष ज्ञान हो उन्हें अवान्तर वाक्य कहते हैं, जिनसे जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध होती हो उन्हें महा वाक्य कहते हैं। महा वाक्य जन्य ज्ञान अपरोक्ष होता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म' ब्रह्म सत्य, ज्ञान अनन्त है इससे ब्रह्म का स्वरूप मात्र बोध होने से

अवान्तर वाक्यता सिद्ध होती है।अहंब्रह्मास्मि'तत्त्वमसि, सोहमस्मि इत्यादि, ब्रह्म जीव की एकता बताने से महा वाक्य कहे जाते हैं। एकता या अद्वैत के बताने के पूर्व शब्द शास्त्र का यहां विचार करना आवश्यक है क्योंकि वाक्य वृत्ति बिना अर्थ बोध नहीं हो सकता याक्यार्थ का बोध शब्द शास्त्र का विषय है। ध्वन्यात्मक, वर्णात्मक भेद से शब्द दो प्रकार का है, जिसमें सार्थक वर्णों के समुदाय को अथवा वर्ण को शब्द कहते हैं। सस्कृत भाषा में शब्द दो विभागों में विभक्त हैं एक लौकिक दूसरे वैदिक कहे जाते हैं। विभक्त्यन्त शब्द को पद कहते हैं और पद समुदाय को वाक्य कहते हैं। अपने अर्थ को जनाने के लिये शब्द में वृत्ति होती है, जिसे शक्ति और लक्षणा कहते हैं। शक्ति वृत्ति से मुख्यार्थ का बोध होता है, मुख्यार्थ की असम्भावना में लक्षणा की जाती है इसीलिये शक्य अर्थ से लाक्षणिक अर्थ गौण माना जाता है। शक्तिवाद में दार्शनिकों के अनेक मत हैं जैसे—नैय्यायिक शक्ति को नहीं मानते हैं केवल पद में ईश्वर की इच्छा या केवल इच्छा को ही शक्ति कहते हैं।'अस्मात्पदादयमर्थो बौद्धव्यइतीश्वरेच्छासंकेतःशक्तिः' इस पद से यह अर्थ जानना चाहिये, ऐसी ईश्वरेच्छा के संकेत को शक्ति कहते हैं। वैयाकरण वाच्य वाचक के मूलतादात्म्य सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं। मीमाँसा में शक्ति नामक पदार्थ स्वतन्त्र है, वेदान्त में अर्थ बोधन सामर्थ्य ही पद में शक्ति है इसी प्रकार कोई जाति में, कोई व्यक्ति में तथा कोई जाति विशिष्ट व्यक्ति में तथा आकृति जाति विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मानते हैं। जिन

पदों की शक्ति ज्ञात होती है उन्हीं से शाब्द बोध होता है। जिनकी ज्ञात नहीं उनसे शाब्द बोध नहीं होता, वर्ण क्रमशः उत्पन्न होने के बाद उनकी क्रमानुवर्तिनी एक स्मृति होकर अर्थ ज्ञान कराती है क्योंकि शब्द अनित्य है, मीमांसा तथा व्याकरण के मत में शब्द नित्य एवं द्रव्य है वेदान्त, न्याय के मत में पंचभूत एवं आकाश का गुण है। यह शक्ति के विषय का संक्षेप से वर्णन है। शक्यार्थ के सम्बन्धी में लक्षणा होती है, लक्षणा दो प्रकार की है एक निरूढ़ दूसरी प्रयोजनवती, जिसका किसी अनादि तात्पर्य में व्यवहार हो उसे निरूढ़ कहते हैं। जैसे 'नीलोघटः' यहां नील पद घट में लाक्षणिक है। महा वाक्यों में निरूढ़ लक्षणा का ही व्यवहार होता है क्योंकि ईश्वर का अनादि तात्पर्य जीव ब्रह्म के अभेद बोधन में है। 'गंगायांघोषः' यह प्रयोजनवती लक्षणा है क्योंकि वक्ता का तात्पर्य गङ्गा पद वाच्य प्रवाह में घोष के बताने का नहीं है बल्कि उसका तात्पर्य गंगा तट में है इसे ही केवल लक्षणा ही कहते हैं। गङ्गापद अपना शक्यार्थ प्रवाह को छोड़कर तट में लाक्षणिक है इससे भिन्न एक लक्षित लक्षणा भी है जो परम्परा से अपना अर्थ बताती है। शक्य के साक्षात् सम्बन्ध वाले में केवल लक्षणा तथा परम्परा सम्बन्ध वाले में लक्षित लक्षणा होती है 'गंगायांघोषः' यह केवल लक्षणा का उदाहरण है तथा 'द्विरेफोरौति' अर्थात् दो रेफ गुञ्जार करता है। इस वाक्य में दो रेफ की शक्ति दो रकारों में है। उसमें गुञ्जार नहीं हो सकता। इसलिये दो रेफ का सम्बन्धी भ्रमर पद उसका सम्बन्ध मधुप से होने से यह परम्परा सम्बन्ध से ज्ञात हुआ कि भ्रमर शब्द करता है। इसी से इसे

लक्षित लक्षणा कहते हैं। लक्षणा का सामान्यार्थ शक्य सम्बन्ध से है। चाहे वह साक्षात् हो या परम्परा इस विषय में और भी विचार हैं तथापि यहां उनका वर्णन अनुपयोगी है। इसके अतिरिक्त लक्षणा के तीन और भी भेद हैं जिन्हें जहती, अजहती और भाग त्याग कहते हैं 'गंगायांघोष:' यह उदाहरण जहती का है क्योंकि शक्य प्रवाह रूप अर्थ का त्याग होकर तट रूप अर्थ का बोध हो रहा है। शक्य अशक्य दोनों में वृत्ति जहाँ होती है वहाँ अजहती लक्षणा होती है जैसे 'काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्' कौओं से दही को बचाओ यह अर्थ शक्ति वृत्ति से ज्ञात हुआ परन्तु वक्ता का तात्पर्य दही के विनाशक काक अशक्य बिल्ली, कुत्ता आदि सभी में व्यवहृत हुआ है। शक्य अशक्य दोनों में वृत्ति होने से यह अजहती लक्षणा है। प्रतिकूल अंश का त्याग करके अनुकूल अंश की एकता करने में भाग त्याग लक्षणा होती है जैसे यह वही देवदत्त है' तद्देश तत्काल में देखे हुये देवदत्त को इस देश इस काल विशिष्ट रूप से अनुभव होता है तद्देश तत्काल का इस काल इस देश का परस्पर विरोध है परन्तु देवदत्त अंश में एकता है यही लक्षणा जीव ब्रह्मैक्य में भी की जाती है। जैसे 'तत्वमसि' इस महा वाक्य में दो अंश हैं। एक वाच्य दूसरा लक्ष्य , जिसमें तत्पद का वाच्य ईश्वर अन्तर्यामी है जो सर्वज्ञ सर्व शक्ति मान है, लक्ष्य है शुद्ध ब्रह्म या जिसे मायोपहित कहते हैं। त्वंपद का वाच्यकर्त्ता भोक्ता जीव है। जिसे अन्तः करणावच्छिन्न कहते हैं और उसका

लक्ष्य कूटस्थ अन्तः करणोपहित चेतन है। कूटस्थ और ब्रह्म में कोई भेद नहीं प्रत्युत उपाधि मात्र का भेद है। जैसे घटाकाश महदाकाश। तत्पदका वाच्याँश ईश्वर और त्वंपदका वाच्यांश कर्त्ता भोक्ता जीव है। ये परस्पर सर्वज्ञता, अल्पज्ञता के विरुद्ध होने से एक नहीं हो सकते, इसलिये वाच्यांश का त्याग करके लक्ष्यांश में दोनों की एकता है। यह एकता 'सोऽयंदेवदत्तः' की तरह भाग त्याग लक्षणा से है। इस एकता जन्य ज्ञान को शब्द अपरोक्ष भी कहते हैं। इसी प्रकार 'अहंब्रह्मास्मि' आदि महा वाक्यों को भी समझ लेना चाहिए। 'प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनो विहाय संगृह्यत योश्चिदात्मताम्। संशोधितां लक्षणयाचलक्षितांज्ञात्वास्वमात्मान-मयाद्वयोभवेत्। (अध्यात्म० उ० का० ५-२६) उक्त अर्थ इस श्लोक में पूर्ण रूप से आ गया है। द्वैतवाद के आचार्यों ने इन महा वाक्यों का अर्थ जैसा किया है उसका संक्षेप से वर्णन करके महा वाक्यों का तात्पर्य वास्तव में अद्वैत ही है इसे यहां से दिखाते हैं, जिस 'तत्त्वमसि' महा वाक्य से अद्वैत का अर्थ सिद्ध किया उस पर 'द्वैतवाद की ओर से यह आपत्ति की जाती है कि इन वाक्यों से अभेद की सिद्धि न होते हुये द्वैत की ही सिद्धि होती है। जैसे 'तत्त्वमसि' में लक्षणा से अभेदार्थ की सिद्धि की गई वह ठीक न होकर 'तस्य त्वमसि' अर्थात् उस ब्रह्म के तुम सेवक या भक्त हो, यह षष्ठी समास का अर्थ होने से द्वैत ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अहंब्रह्मास्मि' में लक्षणा वृत्ति से 'अहं' जीव ब्रह्म है ऐसा अर्थ न लेने से भी मैं जीव ब्रह्म में

स्थित हूं ऐसा अर्थ मान लेने पर द्वैत सिद्धि में कोई आपत्ति नहीं रहती ऐसा ही अन्य महा वाक्यों में भी समझ लेना चाहिये। परन्तु यह अर्थ श्रुति से विरुद्ध है 'तत्त्वमसि' महा वाक्य को इस प्रकार कैवल्य श्रुति में माना गया है "सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरंनित्यं सत्वमेवत्त्वमेवत् (कै० प्र० ख० १६) उलट फेर कर व्याख्यान करने से षष्ठी समास की रीति अयुक्त ठहरती है ऐसा ही अर्थ अहं ब्रह्मास्मि के विषय में भी समझना चाहिए। एक विज्ञान से सर्व विज्ञान द्वैत वाद में नहीं हो सकता। कोई कोई लक्षणा के विषय में यह दोष देते हैं कि तत्पद एवं त्वं पद दोनों में लक्षणा मानने से पुनरुक्ति दोष आता है क्योंकि दोनों पदों का लक्ष्यार्थ एक शुद्ध ब्रह्म ही है, इसका समाधान इस प्रकार है—तत्पदपरोक्ष और व्यापक अर्थ को बताता है उसमें लक्षणा करने से अपरोक्षत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। त्वं पद यद्यपि अपरोक्षत्व का बोधक है तथापि उसमें अल्पत्ता अव्यापकता आदि दोष होने से पूर्णत्व असम्भव है इसलिये उसमें भी लक्षणा उपयुक्त ही है। अतः महा वाक्यों के दोनों पदों में लक्षणा मानना संगत ही है। वेदान्त परिभाषा ग्रन्थ में महा वाक्यों का लक्ष्यार्थ न मानते हुये शक्यार्थ से ही एकता की गई है अर्थात् लक्षणा से अद्वैत सिद्धि न करते हुये शक्ति वृत्ति से ही अद्वैत सिद्धि की गई है। जैसे "अनित्योघटः" इस वाक्य से घट अनित्य है ऐसा जो शब्द बोध हो रहा है उसमें घट पद की शक्ति घटत्त्व विशिष्ट घट में है घटत्व नित्य है तथा प उसका त्याग होकर शक्ति वृत्ति से ही अनित्यत्व

के साथ अन्वय हो रहा है इसी प्रकार महा वाक्य के वाच्यांश विरुद्ध हैं उनको शक्ति वृत्ति से छोड़कर चेतन अंश में ऐक्य करके भी अद्वैत सिद्धि हो सकती है इत्यादि वेदान्त परिभाषा के शब्द खण्ड में विस्तार से कहा गया है।

मुक्ति-विचार—११

प्रत्येक दर्शन शास्त्र अपना अपना अन्तिम लक्ष्य बनाता है उसे ही उस शास्त्र का प्रयोजन कहते हैं बिना प्रयोजन के प्रवृत्ति असम्भव है। इसी के अनुसार वेदान्त शास्त्र अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को ब्रह्मभावापत्ति आदि नामों से बताता है। इस प्रकरण में इसे ही संक्षिप्त रूप में बताते हैं। वस्तुतः वेदान्त मत में मुक्ति कोई नई चीज नहीं है आत्मा का याथात्म्य ही मुक्ति है। आत्म पदार्थ स्वभावतः नित्य शुद्ध मुक्त है उसे बन्ध या बन्धन जन्य क्लेशादि का किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है। अविद्या के माहात्म्य से आत्मा में सुख दुःख आदि की प्रतीति केवल आरोप से हो रही है इसी अवस्था में आत्मा संसारी कहा जाता है इसी संसारी भाव की निवृत्ति मोक्ष है। परमानन्द की प्राप्ति भी मोक्ष का अङ्ग है ये दोनों ब्रह्म भाव को पूर्ण रूप से व्यक्त करते हैं। किसी किसी मत में अविद्यानिवृत्ति अधिष्ठान स्वरूप है कोई कोई अविद्या निवृत्ति को अभाव स्वरूप कहते हैं इसलिये पृथक् मानते हैं क्योंकि आत्मा या ब्रह्म भाव रूप है ब्रह्म में ही अविद्या के आरोप से यह प्रपंच प्रतीत हो रहा है। कहा भी है

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपचंप्रपंच्यते' अर्थात् निष्प्रपंच आत्मा अध्यारोप एवं अपवाद से ही व्यवहार का कारण बन रहा है। वास्तव में बन्ध मुक्ति दोनों ही अविद्या का व्यवहार है आत्मा इनसे सर्वथा रहित हैं। इस विषय पर यह आशङ्का की जाती है कि आत्मा जब स्वतः प्रकाश आनन्द रूप है तो उसमें अविद्या का आरोप कैसे हो सकता है क्योंकि अन्धेरे और प्रकाश की तरह दोनों का विरोध है। परन्तु यह बात नहीं है जैसे काष्ट का विरोधी अग्नि है तथापि लकड़ी में अग्नि रहती इसी प्रकार अविद्या का विरोधी विशेष चेतन या वृत्ति विशिष्ट चेतन है सामान्य चेतन नहीं है अविद्या सामान्य चेतन के ही आश्रय में रहती है जैसे काष्ठ के अवयवों से बाहर निकली हुई अग्नि ही काष्ठ का विरोधी है इसी प्रकार वृत्ति विशिष्ट चेतन जो 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति से होता हैं वही अविद्या का विरोधी है। इसलिये अविद्या को चेतन के आश्रित होने में कोई आपत्ति नहीं। अविद्या में दो शक्ति हैं जिन्हें आवरण एवं विक्षेप कहते हैं, आवरण शक्ति आत्म स्वरूप को ढक देती है और विक्षेप शक्ति जगत रचना करती है। इन दोनों शक्तियों के प्रभाव से आत्मा में सुख दु:ख का अभ्यास होकर संसार की प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति इसी प्रकार की हैं जैसे स्फटिक मणि में रक्त पुष्प के साहचर्य से लालिमा की प्रतीति, जहां रक्तपुष्प का साहचर्य हटा लालिमा की भी निवृत्ति हुई इसी प्रकार अध्यास की जहां निवृत्ति हुई वहीं अविद्या अपने अंश से निवृत्त हुई। अविद्या की निवृत्ति

ज्ञान से ही होती है। इसके लिये अन्य साधन समर्थ नहीं श्रुति कहती है 'विद्ययामृतमश्नुते' विद्या या ज्ञान से ही मुक्ति होती है 'नास्त्यकृतः कृतेन' मोक्ष कर्म से नहीं हो सकता 'तमेवविदित्वा-तिमृत्युमेति नान्यः पंथाविद्यतेऽयनाय' अर्थात् आत्मज्ञान से ही मृत्यु रहित स्थान की प्राप्ति होती है इस को छोड़ कर श्रेय का और कोई साधन नहीं हैं श्रुति कहती है 'यदाचर्मवदाकाशंवेष्ट-यिष्यन्ति मानवाः । तदादेवमविज्ञायदुःखस्यान्तं गमिष्यन्ति' श्वे० ६—२० अर्थात् मृगचर्म की तरह आकाश को लपेटने में मनुष्य चाहे कृतकार्य हो सकता है परन्तु देव को बिना जाने (आत्मज्ञान बिना) संसार दुःख से कभी भी नहीं छूट सकता 'ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः' ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती इत्यादि प्रमाण ज्ञान से ही मुक्ति होना सिद्ध करते हैं। कुछ विद्वानों की ऐसी भी सम्मति देखी जाती है जो कि ज्ञान कर्म समुच्चय से भी मुक्ति मानते हैं और इस अर्थ में ईशोपनिषद का यह मन्त्र प्रमाण देते हैं 'विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह'। 'अविद्य-यामृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' अर्थात् विद्या (ज्ञान) अविद्या (कर्म) इन दोनों को जो साथ में जानता है वह कर्म से मृत्यु को पार करके विद्या से मोक्ष प्राप्त करता है। इसी प्रकार 'आत्म-वन्तंनकर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय' इस गीता के श्लोक में भी समुच्चय पक्ष माना गया है। हारीतस्मृति में यह पक्ष विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है 'यथाश्वारथहीनाश्च रथाश्चाश्वैर्विनायथा। एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजंमहत्। द्वाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां

यथावैपक्षिणांगतिः। तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यतेब्रह्मशाश्वतम्।
अर्थात् जैसे रथ बिना घोड़ों के तथा घोड़े बिना रथ के अनुपयोगी हैं अर्थात् दोनों का योग एक काम में अपेक्षित है इसी प्रकार तप (कर्म) और ज्ञान एक काल में ही समुच्चय रूप से श्रेय के साधक हैं। जैसे मधु अन्न से संयुक्त होकर उत्तम होता है इसी तरह ज्ञान और कर्म हैं। जैसे पक्षी दोनों ही पंखों से उड़ता है इसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों ही मिलकर सनातन ब्रह्म की प्राप्ति के हेतु हैं। इन तीनों उदाहरणों से समुच्चय पक्ष की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त और भी वचन हैं जिनसे यह पक्ष समर्पित होता है। उक्त ईशोपनिषद मन्त्र के भाष्कर्त्ता अनन्ताचार्य, उव्वटाचार्य तथा अनेक वेदान्ताचार्य भी इसी मत के समर्थक हैं। श्री स्वामी शङ्कराचार्य से भी प्राचीन भर्तृहरि वृत्तिकार जो कि अद्वैत वादी हैं समुच्चय पक्ष को ही मानते हैं। लोकमान्यतिलक महोदय ने जो विस्तृत विवरण गीता पर लिखा है उसमें भी गीता का मन्तव्य समुच्चय पक्ष का ही बताया है। तथापि तिलक का समुच्चय उक्त आचार्यों से विलक्षण है पूर्वोक्त आचार्य कर्म—ज्ञान दोनों को मिलाकर मुक्ति का साधन मानते हैं जिसका खण्डन श्री शङ्कराचार्य ने गीता भाष्य में किया है अर्थात् मुक्ति कर्म ज्ञान के समुच्चय से न होकर केवल ज्ञान से ही होती है लोकमान्य तिलक भी मुक्ति ज्ञान से ही मानते हैं समुच्चय से नहीं तथापि ज्ञानोत्तर जो जीवन्मुक्त के कर्म दग्ध बीजवत् हैं उन्हें ही ज्ञान के साथ मिलाकर समुच्चय बताते हैं। श्री शङ्कराचार्य जिन

युक्तियों से समुच्चय पक्ष का खण्डन करते हैं उनका सन्तोषजनक उत्तर न देते हुए लो॰ तिलक अपने इसी मत को समुच्चय बताते हैं वास्तव में यह समुच्चय सबसे निराला ही है। ज्ञानोत्तर जीवन्मुक्त के व्यवहारों को या लोक संग्रह के कार्यों को स्वामी शङ्कराचार्य कर्म ही नहीं मानते हैं क्योंकि 'गुणागुणेषु वर्तन्ते' इस सिद्धान्त के अनुसार उस काल में कर्तापन का अभिमान न रहने से 'कर्मणि अभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः' अर्थात् कर्म में संलग्न रहने पर भी वह कुछ नहीं करता अतः इससे समुच्चय बताना व्यर्थ ही है। जब कर्त्तापन ही नहीं रहा तो उस अवस्था का किया हुआ कर्म, कर्म ही कैसे कहा जा सकता है क्योंकि कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों समवायी हैं वास्तव में इस अवस्था में समुच्चय बताना चिन्त्य है आत्मा में कर्त्तापन अविद्या से ही है इसी अवस्था में कर्म होता है जब विद्या से अविद्या निवृत्त हो गई तो कर्म कैसे हो सकता है क्योंकि अकर्तापन ही आत्मा का ज्ञान से सिद्ध होता है इसलिए समुच्चय इस अवस्था में असम्भव है इसलिये ज्ञानकर्म का साहचर्य अयुक्त है। वेदान्त दर्शन में 'नाविशेषात्' (वे॰ ३-४-१३) इस सूत्र से ज्ञानी के कर्म को विशेषता नहीं दी है बल्कि 'स्तुतयेऽनुमतिर्वा' वे॰ (३-४-१४) इससे विद्या की स्तुति की गई है कि ज्ञानी यावज्जीवन कर्म भी करे तो विद्या के प्रभाव से निर्लिप्त ही रहता है। कर्म द्वैत अवस्था में ही होता है विद्या द्वारा निवृत्त होने पर उसका सहायक कैसे हो सकता है ज्ञान कर्म का परस्पर विरोध है 'उपमर्दं च'

वे० ३-४-१६ इस सूत्र द्वारा कहा गया है अतः समुच्चय पक्ष अयुक्त है। ईशोपनिषद में विद्यापाद से उपासना लेना चाहिये क्योंकि उपासना में द्वैत रहने से कर्म का विरोध नहीं है उपासना भी मानसिक कर्म ही हैं। अतः इनका समुच्चय हो सकता है इस उपनिषद के पूर्वा पर विचार से यही अर्थ संगत भी प्रतीत होता है 'पूषन्नेकर्षेयमसूर्याहिरण्मयेनपात्रेण' इससे उपासना तथा 'अग्नेनयसुपथा' इससे कर्म का ही ग्रहण यथार्थ होने से यह अर्थ संगत होता है। वृहदारण्यक में भी ये मन्त्र आये हैं वहां पर इसी अर्थं को सिद्ध करते हैं अतः ज्ञान-कर्म का समुच्चय प्रकरण से भी विरुद्ध हे। समुच्चयवादी कर्म त्याग को न सहन कर ज्ञान मुक्ति वादी पर प्रायः आक्षेप किया करते हैं कि कर्म त्याग से लौकिक व्यवहार बिगड़ेगा तथा लोक में यथा काम की प्रवृत्ति होगी एवं संसार की व्यवस्था बिगड़ेगी परन्तु क्रम समुच्चय पक्ष में कर्म त्याग का कोई आग्रह नहीं कि ज्ञानोत्तर कर्म का त्याग ही कर दिया जाय। वास्तव में जिस ज्ञानी का जिस प्रकार का प्रारब्ध हो वैसा व्यवहार करने में कोई क्षति नहीं इसका समर्थन विद्यारण्य स्वामी ने इस प्रकार किया है 'अथवाकृतकृत्योऽपि-लोकानुग्रहकाम्यया। शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेहंकाममक्षितिः (तृ० दी० २६८) अर्थात् ज्ञान से कृतकृत्य होने पर भी शास्त्रीय द्वैत के अनुसार व्यवहार भी करें तो इसमें कोई क्षति नहीं हैं गीता के 'लोकसंग्रहमेवापि वर्त एव च कर्मणि' इन वचनों का उक्त पद्य में समर्थन किया गया है अतः यह कहना अयुक्त है कि क्रम

समुच्चय पक्ष प्रवृत्ति का विरोधी है। 'ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्म मात् कुरुते तथा' इस गीता वाक्य से समुच्चय वाद विपरीत है। ततत्स्वयंयोगसंसिद्धःकालेनात्मनिविन्दति' इस श्लोक में क्रम समुच्चय पक्ष ही माना गया है, क्रम समुच्चय पक्ष में निष्काम बुद्धि से किया हुआ कर्म हृदय शुद्धि का हेतु है 'योगिनःकर्मकुर्वन्तिसंगंत्यक्त्वात्मशुद्धये' आत्मवन्तंनकर्माणि' यह वचन ज्ञान की प्रशंसा में ही है जो वेदान्त सूत्र से संगत होता है। हारीत का अभिप्राय उपासना एवं कर्म में ही है। उपासना को भी विद्या पद से उपनिषद में कहा जाता है जैसे मधुविद्या, वैश्वानरविद्या दहरविद्या आदि यह क्रम क्रममुक्ति का देने वाला है इसीलिये उपासना या विद्या को भी अमृत या मोक्ष की प्राप्ति में हेतु कहा जाता हैं श्री राधा कृष्णनन् ने इसे यों कहा है 'To Realise The supreme Spirit a certain purification of mind is necessary' अतः मुक्ति केवल ज्ञान से होती है। कर्म ज्ञान का साधन है यही श्रौत मत है मुक्ति ज्ञान से ही होती है इस पक्ष में सभी दर्शन शास्त्र तथा अन्य स्मृतियां भी एक मत हैं। शिव गीता में कहा है 'मोक्षस्यनहिवासोऽस्ति नग्रामान्तरमेव वा। अज्ञान हृदयग्रन्थि नाशो मोक्षइति स्मृतः' (शि० गी० १३-१२) अर्थात् हृदयग्रन्थि का नाश ही मोक्ष है जो ज्ञान से ही सम्भव है। महाभारत में भी क्रम समुच्चय मत द्वारा ही मोक्ष माना गया है 'कर्मणावध्यते जन्तुर्विद्ययातु प्रमुच्यते तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयःपारदर्शिनः (म० भा० शां० २४०-७) सांख्य योग शास्त्री भी वेदान्त सम्मत ही मोक्ष मानते हैं। सांख्य

कारिका में कहा है–'धर्मेणगमनमूर्ध्वंगमनमधस्तात्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेनचापवर्गो विपर्ययादिष्यतेबन्धः। सां० का० ४४ अर्थात् धर्म से ऊर्ध्वगमन देवादियोनि की प्राप्ति, अधर्म से मध्य मनुष्यादि योनि, तथा ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बन्ध होता है योग भाष्य में व्यास देव ने कहा है 'तावेतौभोगापवर्गौबुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्यते स हि तत्फलस्य भोक्तेति यथाजयः पराजयःयोद्धृपुवर्तमानः स्वामनिव्यपदिश्यते' यो० भा० स० प० १८ अर्थात् भोग और मोक्ष बुद्धि में ही हैं इनका व्यवहार आत्मा में वैसा ही जैसे जय पराजय सेना द्वारा होने पर भी सेना के स्वामी में उसका व्यवहारु होता है ऐसा ही आरोपित बन्ध मोक्ष है जोकि अज्ञान से ही सम्पन्न होता है इसे कारिका में स्पष्ट कहा है 'तस्मान्न वध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते च नानाश्रयाप्रकृतिः' (सां०का०६२) अर्थात् पुरुष स्वभाव से न बंधता है न संसारी ही होता है और न मुक्त ही होता है बंधना, संसारी होना तथा मुक्त होना प्रकृति के ही कार्य हैं। इससे यह सिद्ध है कि आत्मा में इनकी प्रतीति भ्रम से है बास्तविक नहीं। अतः ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति होती है। न्यायशास्त्रानुसार मुक्ति ज्ञान से होती है 'दुख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरा पाये तदन्तरापायादपवर्गः, न्या० १-१-२ मिथ्या ज्ञान के निवृत्त होने पर ही अपवर्ग या मोक्ष माना गया है। बैशेषिक में षट् पदार्थ के साधर्म्य वैधर्म्य ज्ञान से ही मुक्ति होती है। दीपिका टीका में अन्नं भट्ट ने कहा है—'नित्यनैमित्तिकैरेव

कुर्वाणोदुरितक्षयम् । ज्ञानं चविमली कुवन् अभ्यासेन च पाचयेत् । अभ्यासात् पक्वविज्ञान: कैवल्यं लभते नर: इत्यादिना कर्मणो ज्ञान साधनत्व प्रतिपादनात् ज्ञान द्वारैव कर्म मोक्ष साधनं न साक्षात् तस्मात्पदार्थज्ञानस्यमोक्ष:परमंप्रयोज्जनम् तथा ज्ञानमेव मोक्ष साधनम्' अर्थ—नित्यनैमित्तिक कर्मों से पाप को दूर करते हुये ज्ञान को शुद्ध बनाकर अभ्यास से दृढ़ करे अभ्यास के दृढ़ होने पर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है इत्यादि प्रमाण से कर्म ज्ञान का साधन सिद्ध होता है । कर्म ज्ञान द्वारा परम्परा सम्बन्ध से ही मोक्ष का साधन है साक्षात् नहीं इसलिये पदार्थ ज्ञान का परम प्रयोजन मोक्ष ही है (तर्कसंग्रह) । इन प्रमाणों से क्रम समुच्चय पक्ष ही सार्वभौम सिद्धान्त सिद्ध होता है सम समुच्चय पक्ष एक देशीय है । मोक्ष प्राप्त जीव फिर संसार में नहीं आता 'स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते (के० १-३) 'न च पुनरावर्ततेनचपुनरावर्तते' 'छा. ८-१५-१' 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' अनावृत्ति: शब्दात्' वे० ४-४-२२ नमुक्तस्य पुनर्बन्ध योगोऽप्यनावृत्तिश्रुते: (साँ० द० ६-१७) इन शास्त्रीय बचनों का अर्थ एक ही है जो कि एक स्वर से मुक्ति से नहीं लौटने को बता रहे हैं । कई मतों में मुक्ति से लौटना भी माना गया है तथापि यह वैदिक सिद्धान्त नहीं हैं श्रुति कहती है 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परापरे' मु० २·२-८ जब ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ तभी काम नष्ट हो गये फिर अन्य क्या हेतु रहा कि जिससे जीव फिर संसार में आता है ? यदि कहें कि कुछ हेतु रहा तो मुक्ति नहीं हुई यदि नहीं कहें

तो पुनः संसारी होने में क्या निमित्त है ? यदि यह कहें कि मुक्त जीव फिर से संसार में न आवें तो एक दिन संसार खाली हो जायगा फिर परमात्मा का सृष्टिकार्य निष्फल होगा अतः मुक्ति से फिर लौटना मानना चाहिए। परन्तु जीव अनन्त हैं अनन्त की अन्त कल्पना अयुक्त है। इस मत में कहा जाता है कि परिमित ज्ञान कर्म शक्ति वाले जीव द्वारा सम्पादित मुक्ति अपरिमित नहीं हो सकती तथा इस मत वाले मुक्ति को जन्य मानते हैं अतः उसका अनित्यत्व निश्चित है परंतु मुक्ति ज्ञान कर्म जन्य नहीं हैं 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इस वचन से यह मत विरुद्ध है क्योंकि आत्मा स्वभावतः मुक्त है उसकी मुक्ति औपचारिक है ऐसा इससे सिद्ध है ज्ञान कर्म से मुक्ति मानना अप्रमाणिक है एवं मुक्ति जन्य नहीं है। अवक्रम मुक्ति का विषय लिखते हैं—छान्दोग्योपनिषद में कहा है—तद्य इत्थं विदुः येचेमेऽरण्ये श्रद्धातपइत्युपास्ते तेऽर्चिषमभिसम्भ-वन्त्यर्चिषोऽहरहः आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादयुदङ्ङेतिमासा स्तान् ।1। मासेभ्यःसंवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसंचन्द्र मसो विद्युतं तत्पुरुषो अमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति एषदेव यानः पन्थाः छा० ५-१०-१,२ जो उपासक एकान्त में श्रद्धा तप की उपासना करते हैं वे अन्त में (मरणकाल में) अर्चि को प्राप्त होते हैं तत्पश्चात् दिन के स्वामी देव को उसके बाद शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव को इसके बाद उत्तरायण के अभिमानी देव को तत्पश्चात् संवत्सर के अभिमानी देव को पुनः आदित्य को आदित्य से चन्द्रलोक तथा चन्द्र मासे विद्युत को इसके बाद दिव्य अमान

ब पुरुष उसे मिलकर उपासक को ब्रह्म लोक में पहुंचा देता है इसे ही देवयान मार्ग कहते हैं। ब्रह्मलोक में पहुंचकर कल्प की समाप्ति तक उपासक वहां रहकर फिर कैवल्य मोक्ष को प्राप्त करता है। वृहदारण्यक में भी यह विषय कहा गया है ब्रह्मलोक में सुख भोगने के पश्चात् कैवल्य प्राप्ति को श्रुति इस प्रकार बतलाती है 'ते ब्रह्मलोकेषुपरान्तकालेपरामृताः परिमुच्यन्तिसर्वे' महाभारत में भी कहा गया है—ब्रह्मणासहतेसर्वेसम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' देवयान से गया हुआ उपासक फिर संसार में नहीं आता तेषु ब्रह्मलोकेषु पराःपरावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः (वृ० ६-२-१५) गीता में भी कहा है एक यायात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः (जी० ८-२६) यही गति पंचदेव के उपासकों को भी प्राप्त होती है। शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु और सूर्य इन पंच देवों की उपासना हृदय शुद्धि का हेतु होकर अद्वैत बोध में उपयुक्त है उपनिषदों में कही हुई उपासनायें कोई तो ऐश्वर्य के निमित्त हैं कोई क्रम मुक्ति के हेतु हैं ऐसा वेदान्तदर्शन के तीसरे अध्याय के तीसरे पाद में कहा गया है। उपासना का फल सगुण ब्रह्म की प्राप्ति ही है। इस विषय पर यह जिज्ञासा उपस्थित होती है कि उपासक सगुण ब्रह्म के साथ पूर्ण साम्य प्राप्त करता है या कुछ न्यूनता रहती है क्योंकि निरवधि से ऐश्वर्य का नाम ही मुक्ति है इसे सूत्रकार यों कहते हैं—'जगद् व्यापार बर्ज प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च' वे० ४-४-१७ यद्यपि 'आप्तोतिस्वाराज्यम्' तै १-६-२ 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि श्रुतियों में उपासककोस्वा

तंन्त्र्य तथा ईश्वर के साथ परम समताप्रतिपादन की गई है तथापि जगद् व्यापार अर्थात् संसार की उत्पत्ति स्थिति और संहार के विषयों से रहित ही ऐश्वर्य प्राप्त करता है यदि सबकी तुल्यता मानेंगे तो अनेक ईश्वर होने से सृष्टि नहीं हो सकेगी। इसलिए ईश्वर एक तथा ये कार्य नित्य सिद्ध ईश्वर से ही होते हैं केवल भोग मात्र में ईश्वर की साम्यता रहती है 'भोगमात्रसाम्य लिङ्गाच्य' इस सूत्र से कहा गया है तेषाॅसवेंषुलोकेषु कामचारो भवति' यह वाक्य भी इसी अभिप्राय में है। सालोक, सामी प्य सारूप्य और सायुज्य ये चार मुक्तियां भी इसी के अन्तर्गत हैं कैवल्य मुक्ति 'अहंब्रह्मास्मि' इस ज्ञान से होती है जिसका निरूपण पहले किया गया है। यह मुक्ति विषयक संक्षिप्त विवरण है।

उपसंहार—१२

साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी वेदान्त शास्त्र के विचार की पात्रता प्राप्त करता है यह श्रौत सिद्धान्त है 'आत्मा वा रेद्रष्टव्यः श्रोतब्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' अर्थात् आत्मा के साक्षात् करने के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये तीनों साधन नियम पूर्वक करने चाहिये। ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान कराने में इनका उपयोग हैं। अपरोक्ष ज्ञान महाकाव्यों से ही होता है। अपरोक्ष ज्ञान के प्रति श्रवणादि का ज्ञान भी बहिरङ्ग है। श्रवणादि ज्ञान के प्रति नित्य अनित्य का विवेक १ वैराग्य २ षट् सम्पत्ति ३ शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान ये षट् सम्पत्ति कही

जाती है और मुमुक्षता ४ ये चारों साधन भी बहिरङ्ग ही हैं इनके उपयोग का वर्णन आचार्यों ने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' वे० १-१-१ इस सूत्र के भाष्य में किया है। 'शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुरात्मान मात्मन्येवपश्येत्' इस श्रुति से चतुष्टय साधनों का ग्रहण किया गया है इन आठों साधनों से सम्पन्न पुरुष ही वेदान्त शिक्षा को प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकता है।' मतान्तर से अष्टाङ्गयोग, भक्ति भी ज्ञान के आविर्भाव के हेतु हैं अद्वैत ज्ञान के होने पर प्रारब्ध कर्म के अतिरिक्त क्रियमाण और संचित इन दोनों प्रकारों के कर्मों का नाश हो जाता हैं 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे' इस उक्त श्रुति से तथा 'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् करते तथा' इस गीता वाक्य से भी यह सिद्धान्त समर्थित होता है। प्रारब्ध कर्म का नाश भोग से ही होता है 'तस्यतावदेवचिर यावन्न विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्ये' यह श्रुति इस विषय में प्रमाण है। 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वासम्पद्यते, वे० ४-१-१९ इस सूत्र से भी यही बात कही गयी है। साँख्य शास्त्र में भी यह सिद्धान्त इसी प्रकार माना गया है 'सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकरण प्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः' सां.का.६७ यथार्थ तत्त्व ज्ञान होने पर धर्माधर्मजन्य पुण्य पाप तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिये जन्मादि उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं कुम्हार जैसे चाक को घड़ा बनाने के लिये घुमाता है घड़ा बनाने के बाद भी कुछ देर तक चाक चलता ही करता है जब वेग शान्त हो जाता है तब चाक अपने आप बन्द हो जाता है इसी प्रकार

ज्ञान होने पर भी ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध कर्मों के अनुसार शरीरधारी की तरह व्यवहार करता हुआ प्रतीत होता है यही व्यवहार लोक संग्रह भी कहे जाते हैं 'नैर्वकिंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' ऐसा गीता का सिद्धान्त है। इसे ही अत्यन्त प्रलय कहते हैं। प्रलय के तीन और भी भेद हैं जिन्हें यहां बताते हैं नित्य प्रलय जिसे सुषुप्ति कहते हैं दूसरा अवान्तर प्रलय जो युगान्त में होता है। प्राकृत या जिसे ब्राह्म प्रलय कहते हैं यह तीसरा है। सृष्टि जिस क्रम से उत्पन्न होती है अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी के क्रम से उत्पन्न होकर इससे विपरीत क्रम से प्रलय होता है पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश प्रकृति में, प्रकृति ब्रह्म में लीन होती है। इन तीनों में अविद्या का लेश रहता है। अत्यन्त प्रलय में अविद्या पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाती है इस का सम्पादक अद्वैत ज्ञान है। ज्ञानी शेष प्रारब्ध में योग या समाधि का अभ्यास करके जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्राप्त करते हुये विदेह मुक्ति प्राप्त करता है। कुछ ज्ञानी लोक संग्रह न करते हुये केवल ब्रह्म के चिन्तन में ही मग्न रहते हैं कुछ जडवत् मूक रहते हैं। कुछ लोक संग्रह करते हैं तथापि ये भेद शेष प्रारब्ध के ज्ञानी के नहीं क्योंकि तात्त्विक बोध सब सिद्धों का एकसा ही है इसलिए गीता में स्थितप्रज्ञ, गुणातीत और भक्त के लक्षण एक से ही बताये गये हैं। इसलिये संन्यास या कर्म योग का आग्रह एक देशीय है। पूर्ण ज्ञानी पुरुष का शरीर से असम्बन्ध होने से तदात्म्याध्यास का अभाव रहता है तथा उसे अशरीरी कहते हैं

श्रुति में कहा गया है 'यद्यथाहि निर्ल्वयिनी वल्मीके मृताप्रत्यस्ता-शयीतैवमेदँशरीरं शेतेऽथायमशरीरः' बृ० ४-४-७ जैसे सांप अपनी केंचुली का त्याग करके अलग चला जाता है बिल में कंचुक सर्पाकार में केवल दिखता है उससे उसका सम्बन्ध नहीं रहता इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुष का भी शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता वह शरीर में रहते हुये भी अशरीरी है। 'नवद्वारेपुरेदेही नैवकुर्वन्नकारयन्' गीता भी इसे मानती है। ज्ञान होने पर भाग साधनों का नाश न हुआ हो तो ज्ञानी की स्थिति में शास्त्रीय व्यवहार करने से भी कोई अन्तर नहीं आ सकता। श्री विद्यारण्य स्वामी ने कहा है 'तदित्थंतत्त्व विज्ञाने साधनायुपमर्दनात्। ज्ञानिनां चरितुं शक्यं सम्यम् राज्यादि लौकिकम्' (ध्या० दी० ११४) इससे यथेष्टाचरण का दोष उस पर नहीं लगाया जा सकता क्योंकि व्यवहार में शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति का विधान समान रूप से किया गया है इसलिए ज्ञानी को भी विद्यारण्य स्वामी कहते हैं 'बुद्धाद्वैत सतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि। शुनां तत्त्व दृशां चैव कोऽभेदोऽशुचिभक्षणे' प० द्वै०' षि० ५५ यदि अद्वैत जान लेने पर भी यथेष्टाचरण हो तो उस ज्ञानी तथा अभक्ष्य भक्षण करने वाले कुत्ते में अन्तर ही क्या रहा अतः ज्ञानी पुरुष का व्यवहार संसार के सामने एक महान् आदर्श होता हैं। यही जीवनमुक्त का सर्वोत्कृष्ट व्यवहार है। संन्यासी सिद्ध को व्यवहार का अभाव होने से संन्यास काल में उसे विलक्षण जीवन्मुक्ति का आनन्द मिलता है तथापि विदेह मुक्ति दोनों की समान ही है।

।। वेदान्त दर्शन द्वितीय भाग समाप्त ।।

श्री १००८ श्री स्वामी जी कृत ग्रन्थ रचनायें

१–श्री बगलामुखी रहस्यम्	...	१८-००
२–पञ्चोपनिषद् (प्रकाशभाष्य)	...	१०-००
३–प्रश्नोपनिषद् प्रकाश भाष्य	...	१-००
४–सौन्दर्य लहरी (डिण्डिम टीका)	...	७-००
५–घेरण्ड संहिता (भाषानुवाद)	...	८-००
६–नारदीय शिक्षा (संस्कृत टीका)	...	१-५०
७–पुरश्चरण पद्धतिः	...	३-००
८–ईश्वर गीता (हिन्दी अनुवाद)	...	६-००
९–शरभ तन्त्र	...	५-००
१०–शिवसूत्रम् भक्तिसूत्रञ्च	...	३-००
११–वेदान्त प्रबोध (सानुवाद)	...	२-००
१२–वैदिक उपदेश हिन्दी	...	१०-००
१३–अथर्ववेदाङ्गज्योतिष	...	३-००
१४-लेख संग्रह	...	१२-००
१५–श्री महात्रिपुर सुन्दरी पूजन पद्धति	...	१०-००
१६–तांत्रिक पंचाङ्ग	...	८-००
१७–चिद्विलास हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत		४-०० ३-०० ७-००
१८–सप्त विंशति रहस्य	...	७-००
१९–योग विज्ञान (प्रथम)	...	१०-००
२०–योग विज्ञान (द्वितीय)	...	१०-००
२१–भैरव सर्वस्व	...	२१-००

मुद्रणालय—श्रीशंकर प्रेस, ३६-३७, खत्रयाना, झाँसी